योग सार संग्रह

आ॰ सू सि॰-87
I. T. N. S.-87

कुल धन का विवरण मांगने का प्रस्ताव

PROPOSAL FOR CALLING FOR TOTAL WEALTH STATEMENT

नाम और पता
address of the assessee . . .
ंक रजिस्टर संख्या
. . . .

. . . . . .
धान स्रोत
urces of business . . .
निर्धारण वर्षों में निर्धारित कुल आय
e assessed in the last three com-
ments.

कर निर्धारण वर्ष Assessment Year	कुल निर्धारित आय Total Income assessed
1.	1.
2.	2.
3.	4

ॐ

श्रीमद्विज्ञानभिक्षुप्रणीत

योगसारसंग्रह

हिन्दी-अनुवाद सहित

अनुवादक

स्वामी सनातनदेव

मूल्य ३)

प्रकाशक—
मोतीलाल बनारसीदास
७५ नैपाली खपरा
वाराणसी।

मुद्रक
जयभारत प्रेस
बाँसफाटक
वाराणसी।

ॐ

प्राक्कथन

आजसे प्रायः चार वर्ष पूर्व दिल्लीमें ही मुझे यह ग्रन्थरत्न देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। यह पुस्तक थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार (मदरास) द्वारा प्रकाशित हुई है। आरम्भमें सम्पूर्ण ग्रन्थका डा० श्रीगंगानाथ झाका किया हुआ अंग्रेजी अनुवाद है और उसके पश्चात् सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ है। पुस्तक बहुत उपयोगी जान पड़ी। ग्रन्थकार श्रीविज्ञानभिक्षुजी निःसन्देह सांख्य और योगके बड़े मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने तो ब्रह्मसूत्रोंका भी सांख्यसम्मत भाष्य लिखा है। उनकी लेखनशैली अत्यन्त सुबोध और सरल है। योगसूत्रोंके तात्पर्य-का ऐसा स्फुट विवेचन अन्यत्र अलभ्य ही है। डाक्टर झा तो इस ग्रन्थसे अत्यन्त प्रभावित जान पड़ते हैं। अपने अनुवादकी भूमिकामें वे लिखते हैं—'In the whole course of my study I have not come across a better treatise to be placed in the hands of either 'students' of or 'aspirants' to 'Yoga'. अर्थात् अपने सम्पूर्ण अध्ययनक्रममें मुझे ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिला जो योगविद्याके विद्यार्थियों अथवा अभ्या-सियोंके हाथोंमें देनेके लिये इससे अधिक उपयोगी हो। अतः इसे पढ़ लेनेपर मेरा संकल्प भी इसका हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत करनेका हो गया। आशा है, इससे हिन्दी भाषाभिज्ञ साधक एवं जिज्ञासुओंको योगविद्याका दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करनेमें अवश्य कुछ सहायता मिलेगी।

ग्रन्थकार श्रीविज्ञानभिक्षुके जीवनवृत्तान्तके विषयमें अभीतक कोई विशेष सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। डाक्टर झाके लेखसे भी केवल

इतना ही पता चलता है कि इनके रचे हुए ब्रह्ममीमांसाभाष्यके अन्तमें उसकी समाप्तिका संवत् १७७५ विक्रमी लिखा है। अतः यह बात तो निर्विवाद है कि ये विक्रमीय अठारहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें विद्यमान थे इन्होंने योगसूत्रके व्यासभाष्य पर 'योगवार्तिक' नाम्नी विस्तृत टीका लिखी है तथा वेदान्तसूत्रोंपर 'विज्ञानामृतभाष्य' और सांख्यसूत्रोंपर 'सांख्यप्रवचनभाष्य'की रचना की है। कठ, कैवल्य, तैत्तिरीय, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य एवं श्वेताश्वतर आदि कई उपनिषदोंपर आपका 'आलोक' नामक भाष्य है। इनके सिवा सांख्यकारिका, ईश्वरगीता और भगवद्गीतापर भी आपकी टीकाएँ सुनी जाती हैं। आपके स्वतन्त्र ग्रन्थोंमें उपदेशरत्नमाला, ब्रह्मादर्श, योगसारसंग्रह और सांख्यसारविवेक प्रधान हैं। इनके ग्रन्थोंसे यह बात स्पष्ट जान पड़ती है कि ये सांख्य और योग के पक्षपाती थे। शांकर सिद्धान्तकी इन्होंने जहाँ-तहाँ कुछ आलोचना भी की है तथा कहीं-कहीं ज्ञानकी अपेक्षा योगका उत्कर्ष भी दिखाया है। नीचे इस ग्रन्थमें आये हुए ऐसे कुछ प्रसंगोंकी आलोचना की जाती है।

पृष्ठ ३ और ११ पर आप लिखते हैं कि ज्ञानके द्वारा तो प्रारब्धके अतिरिक्त अन्य कर्मोंका ही नाश होता है, अतः ज्ञानीकी मुक्तिमें तो प्रारब्धक्षयकी अपेक्षा रहनेके कारण कुछ विलम्ब रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञात योग प्राप्त होनेपर तो प्रारब्धका भी नाश हो जाता है, अतः उस योगीकी मुक्ति उसी समय हो जाती है। साथ ही पृष्ठ ८ और ९ पर आप असम्प्रज्ञात योगमें भी चित्तकी संस्कारमात्र स्थिति स्वीकार करते हुए उस अवस्था से योगीका व्युत्थान भी स्वीकार करते हैं, यथा—'तदा संस्कारमात्रशेषं चित्तं तिष्ठति, अन्यथा व्युत्थानानुपपत्तेः।' इन दोनों बातोंकी संगति कैसे लगायी जाय—वह बात विचारणीय है। प्रारब्धके विषयमें योगसूत्रोंका ऐसा मत है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (२।१३) अर्थात् मूलमें कर्माशय (प्रारब्ध) रहनेपर उसका परिणाम जन्म, आयु और भोगके रूपमें होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि शरीर

आयु और भोग—ये तीनों प्रारब्धके ही परिणाम हैं। प्रारब्ध समाप्त हो जानेपर तो शरीर ही नहीं रहना चाहिये, क्योंकि शरीर रहते हुए तो आयु और भोग भी अवश्य रहेंगे। और व्युत्थानका अर्थ तो यही है कि उस अवस्थामें योगीको देहका अनुसन्धान रहता है। वह देहानुसन्धान किसी कालविशेषमें ही रहेगा, अतः आयु भी रहेगी ही। फिर देहानुसन्धान रहते हुए सुख-दुःखरूप भोग न रहे—यह असम्भव है। अतः ग्रन्थकारका उपर्युक्त कथन हमारे लिये संशयास्पद ही रह जाता है। पृष्ठ ३४ पर आपने असम्प्रज्ञात योगद्वारा प्रारब्धक्षयका क्रम लिखा है। वहाँ असम्प्रज्ञातयोगद्वारा निरोधसंस्कारोंकी वृद्धिके कारण निरोधकालकी वृद्धि दिखायी है और फिर असंप्रज्ञातकी चरमावस्था आनेपर समस्त संस्कारोंके दाहपूर्वक प्रारब्धका भी दाह बतलाया है। परन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि यदि असम्प्रज्ञात योगकी चरमावस्था प्राप्त होनेपर ही प्रारब्धका दाह होता है तो उस अवस्थाके आने तक तो असम्प्रज्ञात योगीका भी प्रारब्ध रहता ही है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि असम्प्रज्ञात योगसे ही प्रारब्धका नाश होता है। क्रमशः प्रारब्धक्षय तो सभी देहधारियोंका हो जाता है। यदि असम्प्रज्ञात योगसे प्रारब्धनाश होता तो वह उसकी प्राप्ति होते ही हो जाना चाहिये था। अतः विचार करनेपर आपकी यह बात हमें युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती। यदि कोई महानुभाव इसका उचित समाधान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे तो हम उनके आभारी होंगे और आगामी संस्करणमें इस शंकाका मार्जन भी कर देंगे।

इसके पश्चात् पृष्ठ १०९ पर आपने अन्यान्य दार्शनिकोंके मुक्तिसम्बन्धी विचारोंका समन्वय करते हुए अद्वैतवादियोंको 'वेदान्तिब्रुवा' की उपाधि देकर उनके मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तकी आलोचना की है। वहाँ आपने श्रुति-स्मृतियोंके ऐसे वाक्य भी उद्धृत किये हैं जिनसे आपके मतानुसार मोक्षमें आनन्दका प्रतिषेध होता है। परन्तु आपकी यह बात हमारी समझमें नहीं आयी। यदि अन्य दार्शनिकोंकी भाँति

अद्वैतवादियोंके मतका भी आप समन्वय ही करते तो अधिक उपयुक्त होता। आपने जो वाक्य उद्धृत किये हैं उनसे मोक्षमें हर्ष-शोक अथवा सुख-दुःखका अभाव तो अवश्य सूचित होता है, परन्तु यह बात किसी वाक्यसे सूचित नहीं होती कि जो तत्त्व सद्रूप और चिद्रूप है वह आनन्दरूप नहीं है। यह बात तो निश्चित ही है कि सत्ताके बिना चित्ता (स्फुरण) का और चित्ताके बिना सत्ताका निश्चय नहीं होता। अतः सत्-चित् तो दृष्टिभेद से एक ही तत्त्वके दो पक्ष हैं। वस्तुतः ये तत्त्वके दो गुण नहीं, अपितु उसके विषयमें दो दृष्टियाँ हैं। अतः दृष्टिभेद होनेपर भी तत्त्वतः एक हैं। आपने जो वाक्य उद्धृत किये हैं उनके अनुसार वह तत्त्व सुख-दुःखसे रहित है। यहाँ सुख-दुःखके निषेध द्वारा उसकी आनन्दरूपता ही सूचित होती है। कोई भी वस्तु दूसरेके लिये तो अनुकूल होनेपर सुखरूप और प्रतिकूल होनेपर दुःखरूप होती है, किन्तु अपने लिये तो वह सर्वदा अनुकूल होनेके कारण सुखरूप ही होती है। परम-तत्व परमात्मा सबका अपना-आप है, अतः स्वरूपतः वह सुखरूप या आनन्दरूप ही है। सांख्य या योगके अनुसार सुख सत्त्वगुणका कार्य है। परन्तु असली बात यह है कि सुख या आनन्द तो आत्मा का स्वरूप ही है। रजोगुण-तमोगुण मलिनस्वभाव हैं, इसलिये उनकी वृत्ति होनेपर वह सुख आच्छादित हो जाने के कारण दब जाता है। किन्तु सत्त्वगुण स्वच्छ एवं प्रकाशमय है, इसलिये सात्त्विक वृत्ति होने पर आत्माका स्वरूपभूत सुख वृत्तिमें भी प्रतिफलित होने लगता है। इस प्रतिफलित सुखको ही विषयसुख कहते हैं और स्वरूपभूत सुख ही आनन्द है। ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत वाक्योंमें जिस सुखका निषेध किया है वह वृत्त्युपहित सुख है, स्वरूपभूत सुख या आनन्द नहीं। उसका लक्षण तो आपही के द्वारा उद्धृत श्रीमद्भागवतके इस वाक्यमें आया है—'सुखं दुःखसुखात्ययः' अर्थात् सुख-दुःखसे अतीत हो जाना ही सुख है। भला, यहाँ जिस सुखका लक्षण किया गया है, वह स्वरूपभूत सुख या आनन्द नहीं तो और क्या है? श्रुति इसीको 'रस'

कहती है; यथा—'रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' (तै० उ० २।७) यदि परमतत्त्व सुखरूप नहीं तो यहाँ उसे 'रस' कहने का क्या तात्पर्य है और उसे प्राप्त कर लेनेपर साधक 'आनन्दी' क्यों हो जाता है? इसके सिवा 'आनन्दो ब्रह्मेति विजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३।६), 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै० उ० २।९), 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० उ० २।७) 'यो वै भूमा तत्सुखं......भूमैव सुखम्' (छा० उ० ७।२३।१) इत्यादि अनेकों श्रुतियां परमतत्त्वकी आनन्दरूपताका प्रतिपादन करती हैं। जीवकी तद्रूपसे स्थिति ही उसका मोक्ष है, अतः उस अवस्थामें उसे परमानन्दकी प्राप्ति मानना किसी प्रकार असंगत नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार एक ओर अद्वैतवाद के प्रति जहाँ आपकी कुछ असहिष्णुता देखी जाती है, दूसरी ओर भक्तिपक्षमें आपकी ऐसी निष्ठा जान पड़ती है जैसी कि सामान्यतया सांख्य-योगवादियोंकी नहीं होती। ग्रन्थके आरम्भमें आपने जो नमस्कारात्मक मंगलाचरण किया है उससे ईश्वरका जगत्कर्तृत्व सूचित होता है, जबकि योग और सांख्य दोनों ही दर्शन केवल प्रकृतिको ही जगत्का स्वतन्त्र कारण मानते हैं। इसी प्रकार आगे सवितर्कादि सम्प्रज्ञात समाधिके भेदोंकी व्याख्या करते हुए आपने भगवान्के साकार विग्रह वैकुण्ठनाथ श्रीविष्णुभगवान्को आलम्बनरूपसे स्वीकार किया है। किन्तु सूक्ष्मतया विचार किया जाय तो भगवान्की साकारता तो भावग्राह्य ही है, योग या सांख्य के अनुसार भगवद्धाम या भगवद्विग्रहकी चिन्मयताके विषयमें कोई दार्शनिक व्यवस्था मिलना तो कठिन ही है। इसके सिवा आपने योगके उत्तम अधिकारियोंके लिये ईश्वरप्रणिधानको ही मुख्य साधन माना है, अष्टांग योग तो आपके मतानुसार मन्दाधिकारियोंका ही साधन है। आपकी यह व्याख्या भी आपकी भगवन्निष्ठाका ही परिचय देती है; योगसूत्रोंमें तो अधिकारिभेदसम्बन्धी ऐसी कोई

व्यवस्था देखी नहीं जाती। इससे जान पड़ता है कि आप सांख्य और योगके मर्मज्ञ होनेके साथ उच्चकोटिके भक्त भी थे।

डाक्टर श्रीगंगानाथ झाने मूल पाठके साथ टिप्पणीमें कुछ पाठान्तर भी दिये हैं। सामान्य पाठकोंके लिये अनावश्यक होनेपर भी विद्वानोंके लिये तो पाठान्तरोंका उपयोग होता ही है। अतः हमने भी उन्हें ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। ये पाठान्तर तीन प्रतियोंके हैं, उन्हें टिप्पणीमें १पु. २पु. और ३पु. इन संकेतोंसे सूचित किया है। इन प्रतियों का परिचय इस प्रकार है—

१ पु.—काशीनिवासी श्रीगोविन्ददासजी द्वारा प्राप्त प्रति।

२ पु.—गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशीके पुस्तकालयकी प्रति।

३ पु.—डा० गंगानाथ झा की अपनी प्रति।

प्रस्तुत प्रस्तक वाराणसीमें छापी गयी है और मैं इन दिनों में सर्वदा काशी से बाहर ही रहा हूँ। प्रूफ मेरे पास आते रहे हैं। परन्तु मैं उन्हें केवल एक बार ही देख सका हूँ। अतः बहुत सावधानी बर्तने पर भी छापेकी कुछ अशुद्धियाँ रह ही गयी हैं। उन्हें पुस्तकके अन्त में शुद्धिपत्रमें दिया जा रहा हैं। कृपालु पाठक उसके अनुसार संशोधन करके पुस्तक पढ़ने की कृपा करें।

इस प्रकार जैसी भी प्रभुकी प्रेरणा हुई यह तुच्छ पत्र-पुष्प सँजोकर तैयार किया है। इसे उन्हींके श्रीचरणोंमें समर्पित करता हूँ। प्रभु इसे स्वीकार कर अपने अमृतमय अनुग्रहकी वृष्टि करके अपने पादपद्मोंकी अहैतुकी प्रीति प्रदान करें—यही हमारी प्रार्थना है।

नं० ६ कुदसियाघाट, दिल्ली
माघ पूर्णिमा सं० २०१४ वि०

विनयावनत,
सनातनदेव

श्रीः

विषय-सूची

—(०)—

ॐ

योगसारसंग्रहः

सर्वाशाः सर्वसन्देहाः सर्वेहाः सर्वसंश्रयाः ।
यद्योगेन वियुक्ताः स्युस्तं वन्दे पुरुषं परम् ॥

प्रथमोंऽशः ।

यः सृष्ट्वाब्जजविष्णुशंकरमयं बुद्ध्याख्यसूत्रं मह-
त्तत्त्वं सत्वरजस्तमोमयमहामायामयाद्देहतः ।
अन्तर्यामितयोर्णनाभवदहो तेनैव कुर्वञ्जग-
च्चक्रव्यूहमिदं निजांशमशकान्बध्नाति तस्मै नमः ॥ १ ॥

प्रथम अंश

मंगलाचरण

जिन्होंने महामायारूप अपने सत्त्व-रज-तमोमय शरीर से इस बुद्धिसंज्ञक सूत्रात्मा महत्तत्त्व की, जो ब्रह्मा विष्णु और शंकरस्वरूप ही है, रचना की और फिर मकड़ी की तरह अन्तर्यामिरूपसे उस महामायाके द्वारा ही इस जगत्‌रूप चक्रव्यूह (जाले) की रचना कर इसके भीतर जो अपने ही अंशभूत जीवोंको मच्छरों की तरह फँसा देते हैं उन (परमात्मदेव) को नमस्कार है ॥१॥

पतञ्जलिव्यासमुखान्गुरूनन्यांश्च भक्तितः ।
नतोऽस्मि वाङ्मनःकायैरज्ञानध्वान्तभास्करान् ॥ २॥
वार्त्तिकाचलदण्डेन मथित्वा योगसागरम् ।
उद्धृत्यामृतसारोऽयं[1] ग्रन्थकुम्भे निधीयते ॥ ३ ॥

तत्र पुरुषस्यात्यन्तिकस्वरूपावस्थितेर्हेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति योगद्वयसाधारणं लक्षणम् । व्युत्थानकालीनश्च यत्किंचिच्चित्तवृत्तिनिरोधो नात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिरूपमोक्षे हेतुः, जन्मबीजक्लेशाद्यनुच्छेदकत्वात्, अखिलवृत्तिसंस्कारानुच्छेदकत्वाच्च; अतस्तत्र नातिव्याप्तिः । प्रलयकालीनस्य च

अज्ञानान्धकारके लिये सूर्यरूप श्रीपतञ्जलि एवं व्यास आदि अन्यान्य गुरुजनोंको मैं मन वाणी और शरीरसे भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥२॥

योगरूप समुद्रको योगवार्तिकाचलरूप[2] मँथानीके द्वारा मथकर उसका जो अमृतमय सार निकाला है वह इस ग्रन्थरूप घटमें रखा जाता है ॥३॥

द्विविध योगका साधारण लक्षण

चित्तकी वृत्तियोंका निरोध पुरुषकी आत्यन्तिकी स्वरूपस्थितिका हेतु है और यही [संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात] दोनों प्रकारके योगोंका साधारण लक्षण है । व्युत्थान कालमें जो चित्तवृत्तियोंका थोड़ा-सा निरोध होता है वह आत्यन्तिकी स्वरूपावस्थितिरूप मोक्षका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह जन्मके बीजभूत क्लेशादिका उच्छेद करनेवाला नहीं होता और न उससे सम्पूर्ण वृत्तियोंके संस्कारोंका ही उच्छेद होता है । इसलिये उसमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति

---

१. सारोऽत्र—पा. २ पु० ।

२. श्री विज्ञानभिक्षुकृत योगसूत्रोंकी टीका का नाम योगवार्तिक है ।

वृत्तिनिरोधस्य व्यावर्तनाय आत्यन्तिकेति। स्वरूपावस्थितिः औपाधिकरूपनिवृत्तिः। स्वरूपस्य [1]वाऽप्रच्यवः। तथा च स्मर्यते—"मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।" इति। तत्र संप्रज्ञाताख्ययोगस्य मोक्षहेतुत्वं तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा क्लेशाद्युच्छेदकत्वात्। असंप्रज्ञातयोगस्य[2] चाखिलवृत्तिसंस्कारदाहद्वारा प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेणेति वार्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम् (यो. १. १७. १८.); संक्षेपतश्चाग्रेऽपि वक्ष्यामः। योगाङ्गेषु ज्ञानभक्तिकर्मादिषु च योगशब्दो योगसाधनत्वान्मोक्षोपायत्वाच्च गौण इति।

अथ का निरोद्धव्याश्चित्तवृत्तयः, को वा निरोध इति उच्यते। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति (यो. १. ६.)

नहीं हो सकती। यहाँ 'आत्यन्तिक' शब्द प्रलयकालीन वृत्तिनिरोधका व्यावर्तन करनेके लिये है। जीवकी स्वरूपावस्थिति ही उसके औपाधिक स्वरूपकी निवृत्ति अथवा स्वरूपकी च्युति न होना है; ऐसी ही यह स्मृति भी है—'अन्यस्वरूपताको त्यागकर अपने स्वरूपमें स्थित होना ही मुक्ति है।' दोनों प्रकारके योगोंमें संप्रज्ञात योगकी मोक्षहेतुता तत्त्वसाक्षात्कारके द्वारा क्लेशादिका निवर्तक होनेके कारण है तथा असम्प्रज्ञात योग सम्पूर्ण वृत्तियोंके संस्कारोंका दाह करके प्रारब्धका भी अतिक्रमण कर जानेके कारण मोक्षका हेतु है—इस बात का हमने योगवार्तिकमें विवेचन किया है तथा आगे भी इसका संक्षेपसे वर्णन किया जायगा। योगके साधन और मोक्षके उपाय होनेके कारण योगके अंगोंमें एवं ज्ञान भक्ति और कर्मादिमें भी 'योग' शब्दका गौण प्रयोग होता है।

वृत्तियोंका निरूपण

अब यह बतलाया जाता है कि वे निरोध की जानेवाली कौन-कौन वृत्तियाँ हैं और क्या उनका निरोध है? प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। इच्छा और

---

१. चा—पा. २ पु०। २. असंप्रज्ञाताख्यस्य योगस्य—पा. २ पु०।

पञ्चविधाश्चित्तवृत्तयः। इच्छाकृत्यादिरूपवृत्तीनां चैतन्निरोधेनैव निरोधो भवति। तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

इन्द्रियद्वारा या बुद्धेर्यथार्था वृत्तिः सा प्रत्यक्षं प्रमाणम्। ईश्वरसंग्रहाय सत्त्ववृत्तेः तज्जातीयत्वमत्र विवक्षणीयम्। बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखावद्बुद्धेरग्रभागो येन चित्तस्यैकाग्रताव्यवहारो भवति। स एवाग्रभाग[1] इन्द्रियद्वारा बाह्यार्थे संयुज्य अर्थाकारेण परिणमते मूषानिक्षिप्तद्रुतताम्रवत्। तथा च सांख्यसूत्रम् 'भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः संबन्धार्थं सर्पतीति'(सां. ५. १०७.) इति। बुद्धिर्विषयेषु संबन्धार्थं सर्पति गच्छति इति हेतोर्वृत्तिर्न बुद्धेर्भागोऽग्नेः स्फुलिङ्गवद्विभक्तांशो बुद्धेरिच्छादिवद् गुणश्च न भवति, द्रव्यस्यैव क्रियासंभवादित्यर्थः। सा च वृत्तिः पुरुषे

कृति आदि रूप वृत्तियोंका निरोध तो इन वृत्तियों के निरोधसे ही हो जाता है। इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये प्रमाण हैं।

इन्द्रियके द्वारा जो बुद्धिकी यथार्थ वृत्ति होती है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। ईश्वर की सत्ताका निश्चय करनेवाली वृत्तिको भी प्रमाणवृत्तिमें ही सम्मिलित करनेके लिये उसे इसीकी जातिका कहना अभीष्ट है। बुद्धिकी वृत्ति दीपककी शिखाके समान बुद्धिका अग्रभाग है, जिससे कि चित्तकी एकाग्रतारूप व्यवहार होता है। वह अग्रभाग ही मूषामें डाले हुए द्रवीभूत ताँबेके समान इन्द्रियके द्वारा बाह्य विषयसे मिलनेपर विषयाकारमें परिणत हो जाता है; जैसा कि सांख्यसूत्र भी है—'वृत्ति चित्तके भाग और गुण दोनों हीसे भिन्न पदार्थ है, जो विषयसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये जाती है।' तात्पर्य यह कि बुद्धि विषयोंसे सम्बन्ध करनेके लिये सरकती है—जाती है, इसलिये उसकी वृत्ति न तो अग्निकी चिनगारीके समान बुद्धिका भाग ही है और न इच्छादिके समान उसका गुण ही है, क्योंकि क्रिया तो द्रव्य ही की

१ स एव च भाग—पा. २ पु.।

प्रतिबिम्बिता सती यद्भासते तदेव प्रमाणस्य फलं प्रमेत्युच्यते। तदेव च द्रष्टुर्वृत्तिसारूप्यमप्युच्यते।

लिङ्गजन्या वृत्तिरनुमानं प्रमाणम्; शब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणमिति। फलं तु सर्वत्र पौरुषेयो बोध एव, पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्तेरिति।

विपर्ययवृत्तिश्च मिथ्याज्ञानं दोषजन्यम्। विकल्पवृत्तिस्तु 'राहोः शिरः' 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इत्यादिरूपा। तस्याश्च विशेष-दर्शनानिवर्त्यतामात्रेण विपर्ययाद् भेदः।

हो सकती है—ऐसा इसका तात्पर्य है। वही वृत्ति जो पुरुषमें प्रति-बिम्बित होकर भासती है, उसीको प्रमाणका फलरूप प्रमा कहते हैं। और वही द्रष्टाका वृत्तिसे सारूप्य कहा जाता है।

लिङ्गद्वारा उत्पन्न होनेवाली वृत्ति अनुमान प्रमाण है और शब्द द्वारा होनेवाली वृत्ति शब्द प्रमाण कही जाती है। इन सब प्रमाणोंसे होनेवाला फल तो पुरुषसम्बन्धी बोध ही है; क्योंकि [बुद्धि आदि] करणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके लिये ही है।

विपर्यय वृत्ति दोषजनित मिथ्या ज्ञान है। * तथा विकल्प वृत्ति 'राहुका शिर' 'पुरुषका चैतन्य' इत्यादि रूप ❁ है। विपर्ययसे इसका

---

* योगसूत्रोंमें विपर्ययका लक्षण इस प्रकार किया है—'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्, (१।८) अर्थात् वस्तुके वास्तविक स्वरूपमें न रहनेवाला मिथ्याज्ञान ही विपर्यय है। रज्जुमें सर्प अथवा सीपीमें चाँदीकी प्रतीति इसके दृष्टान्त रूपसे कही जा सकती है। इसीको भ्रम कहते हैं।

❁ विकल्पका लक्षण करते हुए योगसूत्र कहता है—'शब्दज्ञाना-नुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जो शब्दज्ञान का अनुवर्तन करने-वाला किन्तु वस्तुशून्य हो उसे विकल्प कहते हैं। शिरसे अतिरिक्त राहु और चैतन्यसे अतिरिक्त पुरुष कोई वस्तु नहीं हैं। अतः इन वाक्योंसे शब्द ज्ञान तो होता है किन्तु किसी वस्तु का बोध नहीं होता।

निद्रावृत्तिश्च 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादिस्मृतिहेतुरनुभवः सुषुप्तिकालीनः सुखादिविषयः। स्मृतिश्च संस्कारमात्रजन्या वृत्तिः। इति वृत्तयो व्याख्याताः।

निरोधो व्याख्यायते। निरोधो न नाशोऽभावसामान्यं वा, अभावानङ्गीकारात्, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेश्च। किं तु वृत्तितन्निरोधौ चित्तस्य स्वविषये प्रवृत्तिनिवृत्ती भावरूपे एव गतिप्रत्यागतिवत्पुरुषप्रयत्नजन्ये; प्रवृत्तिनिवृत्त्योरन्योन्याभावत्वे [1]विनिगमकाभावात्, प्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्य-

विशेषदर्शन होनेपर भी निवृत्त न होनेमें ही भेद है। *

'मैं सुखपूर्वक सोया' इस प्रकारकी स्मृतिका हेतुभूत जो सुखादिको विषय करनेवाला सुषुप्तिकालीन अनुभव है वही निद्रावृत्ति है तथा संस्कारमात्रसे उत्पन्न होनेवाली वृत्ति स्मृति है। इस प्रकार वृत्तियोंकी व्याख्या हुई।

निरोधनिरूपण

अब निरोधकी व्याख्या की जाती है। निरोध नाश या अभाव-सामान्यको नहीं कहते, क्योंकि उस अवस्थामें अभाव अंगीकार नहीं किया गया है और अभाव होनेपर तो आगे कहे जानेवाले संस्कारों का उत्पादक होना भी सम्भव नहीं होगा। प्रत्युत वृत्ति और उसके निरोध तो अपने विषयके प्रति चित्तकी भावरूपा प्रवृत्ति और निवृत्ति ही हैं, जो पुरुषके प्रयत्नसे होने वाली गति (जाने) और प्रत्यागति (लौटने) के ही समान हैं। यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक-दूसरीकी अभावरूपा ही हों तो उनके स्वरूपका निर्णय करानेवाला कुछ भी नहीं रहेगा और न चित्तकी अवस्थाओंके प्रवृत्ति, निवृत्ति एवं उदासीनता—

---

[1] विनिगमनाभावात्—पा. २ पु.।

* विपर्यय या भ्रमकी निवृत्ति यथार्थ वस्तुका ज्ञान होनेपर हो जाती है, किन्तु विकल्पकी निवृत्ति तब भी नहीं होती।

रूपत्रैविध्यानुपपत्तेश्चेति । अतश्च भावत्वाविशेषाद् वृत्त्येव[1] निरोधेनापि संस्कारो जन्यते ; संस्कारवृद्धिं विनाऽनुदिनं योगस्य कालवृद्धौ नियामकान्तरासंभवादिति दिक् ।

योगसामान्यं लक्षितम् । तद्विशेष उच्यते । स योगो द्विविधः—संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । तत्र सम्यक्प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोध इति संप्रज्ञातो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधविशेषः । तथा च ध्येयसाक्षात्काराख्यफलोपहितनिरोधत्वं संप्रज्ञातत्वम् । एकाग्रताविशेषरूपधारणादित्रयकालीनानां निरोधानां प्रलयादिकालीननिरोधानां च व्यावर्तनायोपहितान्तम् । धारणादि-

ये तीन भेद ही हो सकेंगे । अतः भावत्वमें समानता होनेके कारण निरोधके समय भी वृत्तिके द्वारा ही संस्कारकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि यह बात ध्यान देनेकी है कि संस्कारकी वृद्धि हुए बिना दिनों-दिन योगमें कालकी वृद्धि होनेका कोई और कारण नहीं है ।

योग विशेषका निरूपण

योगसामान्यका लक्षण तो हो चुका, अब योगविशेषका वर्णन किया जाता है । वह योग दो प्रकारका है—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात । जिस निरोधमें ध्येयका सम्यक् प्रज्ञान अर्थात् साक्षात्कार किया जाता है उसे संप्रज्ञात योग कहते हैं; यह ध्येयसे भिन्न वृत्तियोंका निरोधरूप है । इस प्रकार ध्येयसाक्षात्काररूप फलसे उपहित जो निरोधता है वही उसकी संप्रज्ञातता है । धारण, ध्यान और समाधि—इन तीनों अवस्थाओं में होनेवाले एकाग्रता विशेषरूप निरोध और प्रलयादिके समय होनेवाले निरोधकी व्यावृत्तिके लिये इसे ध्येयसाक्षात्काररूप फलसे उपहित कहा गया है । धारणादि तीनों अवस्थाओंमें होनेवाला

---

१ वृत्या इव इति च्छेदः ।

त्र्यकालीनस्तु निरोधो न साक्षात्कारहेतुः, विषयान्तरवासनाया बलवत्तरतया प्रतिबन्धात्, योगजधर्मनाश्याधर्मेण प्रतिबन्धाच्चेति। संप्रज्ञातरूपो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधश्च विषयान्तरसंचाराख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिरूपतया विषयान्तरवासनाभिभवद्वारा च तथा धर्मविशेषद्वारा च ध्येयसाक्षात्कारे हेतुर्भवति। चित्तं हि[1] स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च भवति। तमसाऽऽवरणादेव तु न सदा सर्वं गृह्णाति। अतस्तमोवर्धकानां विषयान्तरसंचारवासनापापादीनां निरोधाख्ययोगतः क्षये स्वयमेव ध्येयं वस्तु साक्षात्क्रियते चित्तेनेति योगशास्त्रसिद्धान्तः। संप्रज्ञातस्य चातुर्विध्यमग्रे वक्ष्यते।

असंप्रज्ञातो लक्ष्यते। न किंचित्संप्रज्ञायतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्या असंप्रज्ञातयोगः सर्ववृत्तिनिरोधः। तदा संस्कारमात्रशेषं चित्तं

योग साक्षात्कारका हेतु नहीं है, क्योंकि उसमें अन्य विषयोंकी वासनारूप अत्यन्त प्रवल प्रतिवन्ध रहता है तथा योगज धर्मसे नष्ट होनेवाला अधर्म भी उसका प्रतिबन्धक है। संप्रज्ञात योगरूप जो ध्येयातिरिक्त वृत्तियोंका निरोध है उसमें विषयान्तरके संचाररूप प्रतिबन्धकी निवृत्ति हो जाती है, अतः वह विषयान्तरकी वासनाओंको दबाकर धर्मविशेषके द्वारा ध्येयके साक्षात्कारमें हेतु होता है। चित्त तो स्वतः ही सम्पूर्ण विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ और विभु है। तमोगुणसे आवृत होने के कारण ही वह सर्वदा सब कुछ ग्रहण नहीं कर सकता। अतः निरोधसंज्ञक योग के द्वारा विषयान्तरमें जानेवाली वासना और पाप आदि तमोवर्धक विकारोंके नष्ट हो जानेपर चित्तद्वारा स्वतः ही ध्येय वस्तुका साक्षात्कार कर लिया जाता है—यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है। इस संप्रज्ञातयोग की चतुर्विधता का आगे वर्णन किया जायगा।

अब असम्प्रज्ञात योगका लक्षण किया जाता है। इसमें किसी भी

---

१ च–पा. २ पु.।

तिष्ठति, अन्यथा व्युत्थानानुपपत्तेः। तस्य च लक्षणं तत्त्वज्ञान-संस्कारादाहकत्वे सति सर्ववृत्तिनिरोधत्वम्। प्रलयादिकालीन-निरोधव्यावर्तनाय सत्यन्तम्।

इदानीमभ्यर्हितत्वादादौ योगफलमुच्यते। तत्र तावद्योगद्वय-साधारणं दृष्टं फलं वृत्तिनिरोधेन वृत्त्युत्थदुःखभोग-निवृत्तिः। अदृष्टं च फलं संप्रज्ञातस्य पूर्वोक्तद्वारैर्ध्येयसाक्षात्कारः, 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता-समापत्तिः' (यो. १. ४१.) इति सूत्रात्। ततश्चाविद्यादिक्लेशनि-

वस्तुका ज्ञान नहीं होता—इस व्युत्पत्तिसे सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध असंम्प्रज्ञात योग है। उस समय चित्त संस्कारमात्र रह जाता है, नहीं तो व्युत्थान होना सम्भव नहीं था। अतः तत्त्वज्ञानके संस्कारोंका दाहक न होकर भी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध हो जाना—यह इस योगका लक्षण है। इस लक्षणकी आवश्यकता प्रलयकालीन निरोध का इससे व्यावर्तन करनेके लिये है*।

योगका फल

अब अत्यन्त प्रयोजनीय होनेके कारण पहले इन योगोंके फलका वर्णन किया जाता है। वृत्तिनिरोधके द्वारा वृत्तिजनित दुःखभोगकी निवृत्ति हो जाना—यह दृष्ट फल तो [संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात] दोनों ही योगोंका समान है। किन्तु सम्प्रज्ञात योगका अदृष्ट फल है पूर्वोक्त साधनोंद्वारा ध्येय वस्तुका साक्षात्कार; जैसा कि 'जिसकी वृत्तियाँ क्षीण हो गयी हैं उस पुरुषकी ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यमें स्वच्छ मणिके समान तत्स्थता (ध्येयमें स्थितिरूप) और तद्रूपतारूप समाधि होती है'

* क्योंकि प्रलयकालमें तत्त्वज्ञानके संस्कार नहीं रहते।

वृत्त्या मोक्षः। तथा सत्यां कामनायां भूतेन्द्रियप्रकृतिजयोत्थः स्वेच्छाभोगश्च[1] भवति। असंप्रज्ञातस्य त्वदृष्टं फलं तत्त्वज्ञानसाधारणानामखिलसंस्काराणां प्रारब्धकर्मणां च दाहाच्छीघ्रं स्वेच्छया मोक्षः[2]। तथा हि, तत्त्वज्ञानेन तावत् स्वसंस्कारः प्रारब्धकर्म च नातिक्रमितुं शक्यते, अविरोधात् 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' (छा. ६. १४. २.) इति श्रुत्या ज्ञानिनो मोक्षे प्रारब्धनिमित्तकिंचिद्विलम्बसिद्धेश्च; ज्ञानेन प्रारब्धनाशे जीवन्मुक्तिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च; प्रारब्धकर्मणां ज्ञाननाश्यत्वस्य वेदान्तसूत्रेण प्रतिषिद्धत्वाच्च। योगस्य तु प्रारब्धकर्मनाशकत्वे[3] बाधकाभावेन,

इस सूत्रसे सिद्ध होता है। फिर अविद्यादिक्लेशोंकी निवृत्ति होनेपर मोक्ष होता है। और यदि कोई कामना रहती है तो भूत, इन्द्रिय और प्रकृतिके जयद्वारा उसे स्वेच्छाभोग भी प्राप्त होता है। तथा असम्प्रज्ञात योगका अदृष्ट फल है तत्त्वज्ञानमें सामान्यतया रहनेवाले सम्पूर्ण संस्कारोंके एवं प्रारब्धकर्मोंके भी दाहद्वारा स्वेच्छासे तत्काल मोक्ष प्राप्त हो जाना। बात यह है कि तत्त्वज्ञान तो अपने संस्कार और प्रारब्धकर्मोंका अतिक्रमण कर नहीं सकता, क्योंकि उनसे उसका विरोध नहीं है। जैसा कि 'जबतक [जीवन्मुक्त] पुरुषकी उपाधि नहीं छूटती तभीतक उसे विलम्ब है, उसके पश्चात् तो वह [परमतत्त्वसे] अभिन्न हो जाता है' इस श्रुतिसे ज्ञानीके लिये मोक्षमें प्रारब्धकर्मजनित कुछ विलम्ब सिद्ध होता है। यदि ज्ञानसे ही प्रारब्धका नाश माना जाय तो जीवन्मुक्तिसम्बन्धी श्रुति और स्मृतिका विरोध होगा तथा प्रारब्धकर्मोंके ज्ञानद्वारा नष्ट होनेका वेदान्तसूत्रोंने निषेध किया है। किन्तु योगके लिये तो प्रारब्धकर्मका नाश करनेमें कोई बाधक

---

१ स्वेच्छातो गतिश्च—पा. १ पु.। २ स्वेच्छाभोगश्च—इत्यधिकम् २ पु.।
३ प्रारब्धनाशकत्वे—पा. १ पु.।

"विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात् ॥"

इति विलम्बाभावश्रवणेन च प्रारब्धकर्मनाशकत्वमस्ति। अतः प्रारब्धकर्मणोऽप्यतिक्रमेण शीघ्रमोक्षार्थिनो ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमप्यसंप्रज्ञातयोगोऽपेक्ष्यत इति। अधिकं तु वार्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम्। एतेनासंप्रज्ञाताभावेऽपि प्रारब्धभोगानन्तरं ज्ञानिनां[1] मोक्षो भवत्येवेति सिद्धान्तो न विरुध्यते। तत्र च प्रमाणम् 'तस्य[2] तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादिश्रुतिः। अविद्याविनिवृत्तौ [3]बीजाभावात्पुनर्जन्मानुपपत्तिश्च। विमोक्ष्ये प्रारब्धकर्मणः सकाशाद्विमुक्तो भविष्यतीत्यर्थः।

नहीं है तथा 'जिसे समाधि प्राप्त हो गयी है वह योगी योगाग्निके द्वारा कर्मराशिके भस्मीभूत हो जानेके कारण तत्काल उसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त कर लेता है' इस वाक्यद्वारा योगीकी मुक्तिमें विलम्बका अभाव सुना गया है, अतः योगकी प्रारब्धकर्मनाशकता निश्चित ही है। इसलिये जिसे प्रारब्धकर्मका भी अतिक्रमण करके शीघ्र मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा हो उसे ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् भी असम्प्रज्ञात योगकी अपेक्षा है। इस विषयका विशेष विवेचन हमने योगवार्तिकमें किया है। इससे इस सिद्धान्तका भी कोई विरोध नहीं होता कि असम्प्रज्ञात योगके अभावमें भी ज्ञानी पुरुषोंका प्रारब्धकर्मका भोग होनेके पश्चात् मोक्ष हो ही जाता है। इस विषयमें 'उसके मोक्षमें तभीतक विलम्ब है जबतक कि वह मुक्त नहीं होगा' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर बीज न रहनेके कारण उसका पुनर्जन्म होना तो सम्भव है नहीं। 'मुक्त नहीं होगा' अर्थात् प्रारब्धकर्मसे छूट नहीं जाता।

---

१ ज्ञानिनो–पा. १ पु.। २ तत्र–१ पु.।
३ जीवा–पा. १ पु.।

स्यादेतत् ।

"योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापजं रजः[१] ।
प्रसभं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम् ॥"

इत्यादिस्मृत्येकवाक्यतया योगस्य कर्मनाशकत्ववाक्यानि संप्रज्ञातयोगपराण्येव सन्त्विति ।

मैवम् । उक्तवाक्येन हि संप्रज्ञातयोगस्य ज्ञानप्रतिबन्धकपापमात्रनाशकत्वमवगम्यते, न सर्वकर्मनाशकत्वम्; तथा सति 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इत्यादिशास्त्रोक्तं ज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वमपि नोपपद्येत, ज्ञानहेतुना संप्रज्ञातयोगेनैव सर्वकर्मनाशात् । यत्तु योगस्य सर्वकर्मनाशकत्वं श्रूयते 'योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्' इति तदसंप्रज्ञातयोगपरमेव । अतो

यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'योगाग्नि तत्काल ही पापजनित सम्पूर्ण मलको भस्म कर देती है, और उससे तुरन्त ही साक्षात् मोक्षरूप सिद्धि देनेवाला ज्ञान उत्पन्न हो जाता है' इत्यादि स्मृतियों से एकवाक्यता की जाय तो योगके जो कर्मनाशकतापरक वाक्य हैं वे संप्रज्ञातयोगके ही विषयमें होने चाहिये ।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है । उपर्युक्त वाक्यसे तो इतना ही जाना जाता है कि संप्रज्ञात योग ज्ञानके प्रतिबन्धक पापोंका ही नाश करनेवाला है; इससे उसकी सर्वकर्मनाशकता सूचित नहीं होती । ऐसा होनेपर तो 'हे अर्जुन ! ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्मीभूत कर देती है' इत्यादि शास्त्रद्वारा प्रतिपादित ज्ञानकी सर्वकर्मनाशकता ही उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि फिर तो ज्ञानके हेतुभूत संप्रज्ञात योगसे ही सम्पूर्ण कर्मोंका नाश हो जायगा । योगकी जो 'योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्' इत्यादि वाक्यद्वारा सर्वकर्मनाशकता सुनी जाती है, वह

---

१ पापपञ्जरम्—पा. २ पु. ।

नानयोर्वाक्ययोः संप्रज्ञातपरत्वेनैकवाक्यत्वं घटते। तस्मात्सं-प्रज्ञातयोगतज्जन्यज्ञानाभ्यामनाश्यस्य प्रारब्धकर्मणोऽसंप्रज्ञात-योगनाश्यत्वमेव 'योगाग्नि-' इत्यादिवाक्यार्थः।

किं च ज्ञानस्य योगस्य च कर्मनाशकत्वं सहकार्युच्छेदेन फलाक्षमीकरणमात्रम्। इदमेव च दाहः। तथा हि, ज्ञानेना-विद्यादिक्लेशक्षये सति क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदादेव कर्मणा विपाक आरब्धुं न शक्यते, 'सति मूले तद्विपाकः—' (यो. २. १३.) इति सूत्रेण कर्मणां स्वमूले क्लेशे सत्येव विपाकारम्भवच-नाद्व्यासभाष्येण तथा व्याख्यानाच्च। अतो ज्ञानस्य कर्मनाश-कत्वदाहकत्ववचनं न्यायसिद्धानुवादमात्रम्।

तो असंप्रज्ञात योगके विषयमें ही है। अतः इन दोनों वाक्योंकी संप्रज्ञातयोगपरक होनेपर एकवाक्यता होनी सम्भव नहीं है। इसलिये जिस प्रारब्धकर्मका संप्रज्ञात योग और उससे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे नाश होना सम्भव नहीं है उसका असंप्रज्ञात योगद्वारा नाश हो सकना ही 'योगाग्नि' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य है।

तथा ज्ञान और योगकी कर्मनाशकता तो सहकारी कारणके उच्छेदद्वारा कर्मोंको फलप्रदानमें असमर्थ कर देनामात्र ही है। और यही दाह कर देनेका भी तात्पर्य है। अभिप्राय यह कि ज्ञानके द्वारा अविद्यादि क्लेशोंका क्षय हो जानेपर इस क्लेशसंज्ञक सहकारी कारणका उच्छेद हो जानेसे ही कर्म अपना फल प्रदान करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि 'मूलमें क्लेशोंके रहनेपर ही कर्मोंका फल होता है' इस सूत्रद्वारा अपने मूलमें क्लेशोंके रहनेपर ही कर्मोंके फलप्रदानका आरम्भ बताया गया है और ऐसी ही इसकी व्यासभाष्यने व्याख्या भी की है। अतः ज्ञानकी कर्मनाशकता और दाहकताका वर्णन युक्ति-सिद्ध वस्तुका अनुवादमात्र ही है।

'एवमेवासंप्रज्ञातयोगेनापि भोगहेतुवासनारूपः कर्मणां सहकार्येवोच्छिद्यते[1]। व्युथानसंस्काराणां निरोधसंस्कारैर्बलवत्तरैरुच्छेदस्य सूत्रभाष्याभ्यामुक्तत्वात्स्वानुभवसिद्धत्वाच्च। अतोऽसंप्रज्ञातयोगपरम्परया अखिलवासनाक्षये सति प्रारब्धफलकमपि कर्म फलसंपत्तये न समर्थं वासनाया अपि कर्मसहकारित्वस्य सूत्रभाष्ययोरवधृतत्वात्। ततश्चासमाप्तभोगकमेव प्रारब्धं कर्म स्वाश्रयचित्तनाशेन नश्यति, पुरुषप्रयोजनं विना चित्तस्यावस्थानाभावात् पुरुषार्थस्य चित्त[2]स्थितिहेतुत्वात्। तस्मादसंप्रज्ञातयोगस्य प्रारब्धकर्मदाहकत्वं युक्तितोऽपि सिद्धमिति दिक्।

तदेवं योगयोः फलमुक्तम्। इदानीं संप्रज्ञातयोगस्य अवान्तर-

इसी प्रकार असंप्रज्ञात योगद्वारा भी भोगके हेतुभूत वासनारूप कर्मोंके सहकारी क्लेशका ही उच्छेद होता है, क्योंकि प्रबलतर निरोध संस्कारोंद्वारा व्युत्थानके संस्कारोंका उच्छेद हो जाता है—यह बात सूत्र और भाष्य दोनोंने कही है और अपने अनुभवसे भी सिद्ध है। अतः असंप्रज्ञात योगकी निरन्तरतासे सम्पूर्ण वासनाओंका क्षय हो जानेपर प्रारब्धरूपसे परिणत होनेवाला कर्म भी फलप्रदानमें समर्थ नहीं होता, क्योंकि सूत्र और भाष्य दोनों हीने वासनाको भी कर्मके सहकारीरूपसे निश्चय किया है। इसीसे जिसका भोग समाप्त नहीं हुआ ऐसा प्रारब्धकर्म भी अपने आश्रय चित्तका नाश होनेपर नष्ट हो जाता है, क्योंकि पुरुषके प्रयोजन बिना चित्तका स्थित रहना सम्भव नहीं है, कारण कि पुरुषका प्रयोजन ही चित्तकी स्थितिका हेतु है। अतः यह दिखला दिया गया कि युक्तिसे भी असंप्रज्ञात योगकी प्रारब्धकर्मदाहकता सिद्ध हो जाती है।

संप्रज्ञात योगके अवान्तर भेद

इस प्रकार दोनों तरहके योगोंका फल बतलाया गया। अब संप्र-

---

1 उत्साद्यते–पा. २ पु.। 2 चिति–पा. २ पु.।

भेदा उच्यन्ते। तत्र संप्रज्ञातश्चतुर्विधः—वितर्कानुगतः, विचारानुगतः, आनन्दानुगतः, अस्मितानुगत इति। साक्षात्कारविशेषेषु तान्त्रिकं वितर्कादिपरिभाषाचतुष्टयम्। तैः सफलैः साक्षात्कारैः अनुगता उपहिताश्चित्तवृत्तिनिरोधा वितर्कानुगतादिसंज्ञका भवन्ति। वितर्कादिकं क्रमिकं भूमिकाचतुष्टयमुच्चारोहि[1]क्रमिकसोपानपरम्परावत्। अतो वितर्कादीनां[2] क्रमेणैव तदनुगतत्वेन निरोधस्यापि क्रमः कथ्यते, स्वतो निरोधे क्रमाभावात्। वितर्कादिक्रम औत्सर्गिकः। एकदा चित्तस्य परमसूक्ष्मप्रवेशस्य[3] प्रायशोऽसंभवात्। तथा च स्मर्यते—

"योगारम्भे मूर्तहरिममूर्तमथ चिन्तयेत्।
स्थूले [4]विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत्॥" इति।

ज्ञात योगके अवान्तर भेदोंका वर्णन किया जाता है। संप्रज्ञात योग चार प्रकारका है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ये वितर्कादि चारों परिभाषाएँ साक्षात्कारविशेषोंको सूचित करनेवाले लाक्षणिक शब्द हैं। उन फलसहित साक्षात्कारोंसे अनुगत—उपहित चित्तवृत्तियोंके निरोध वितर्कानुगत इत्यादि नामवाले होते हैं। ये वितर्कादि चार क्रमिक भूमिकाएँ ऊँचे चढ़नेवालेके लिये आवश्यक क्रमिक सोपानपरम्परा (सीढ़ी) के समान हैं। अतः वितर्कादिके क्रमके अनुसार ही, उनसे अनुगत रहनेके कारण, निरोधका भी क्रम बतलाया जाता है, स्वतः तो निरोधमें कोई क्रम है नहीं। यह वितर्कादि क्रम भी नाममात्रका ही है, क्योंकि एक साथ ही चित्तका अत्यन्त सूक्ष्म प्रवेश प्रायः असम्भव ही होता है। ऐसी ही स्मृति भी है—"योगके आरम्भमें पहले साकार भगवान्का और फिर निराकार का चिन्तन करे। पहले स्थूल आलम्बनमें एकाग्र हुए चित्तको ही फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म आलम्बनमें ले जाय।"

---

१ उच्चारोहे—पा. २ पु.। २ वितर्काणां—पा. १ पु.।
३ सूक्ष्मे प्रदेशस्य—पा. २ पु.। ४ विनिर्मितं—पा. २ पु.।

-तथा स्थूलादिविषयेषु रागादपि उत्तरोत्तरभूमिषु चित्तसमाधानं न संभवति। अतः स्थूलादिसाक्षात्कारेण तत्र तत्र दोषदृष्ट्या उत्तरोत्तरभूम्यारोहो राजमार्गः। यस्य तु कदाचिदीश्वरप्रसादादादावेवोत्तर[1]भूम्यारोहो भवति, तेन च पूर्वभूमिकाभ्यासस्तत्सिद्धिकामनां विना न कार्यः, उत्तरभूमिकारोहस्य फलस्य जातत्वात्। तदुक्तं भाष्यकारैः—'ईश्वरप्रसादादर्जितोत्तरभूमिकस्य नाधरभूमिषु[2] विनियोगस्तदर्थस्यान्यत एव सिद्धेः' इति।

एतच्च भूमिकाचतुष्टयमेकस्मिन्नेवालम्बने क्रमात्कर्तव्यम्, अन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः। चित्तचाञ्चल्यदोष-

इसके सिवा स्थूल विषयोंमें राग रहनेके कारण भी आगे-आगेकी भूमियोंमें चित्तका समाहित होना सम्भव नहीं है। अतः स्थूलादि विषयोंका साक्षात्कार करके फिर उनमें दोषदृष्टि करते हुए आगे-आगे की भूमिकाओंमें आरूढ़ होना ही राजमार्ग है। किन्तु यदि कभी किसीको भगवत्कृपासे आरम्भमें ही आगेकी भूमिकापर अधिकार प्राप्त हो जाय तो उसे पूर्व भूमिकाओंका अभ्यास उनकी सिद्धिकी कामनाके बिना करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे तो आगेकी भूमिकापर आरूढ़ होनेका फल प्राप्त हो चुका है। यही बात भाष्यकार (भगवान् व्यास) ने भी कही है—'भगवत्कृपासे जिसे आगेकी भूमिका प्राप्त है उसे नीचेकी भूमिकाओंमें लगनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे तो उनका प्रयोजन अन्य प्रकार से ही प्राप्त हो चुका है।'

ये चारो भूमिकाएँ क्रमशः एक ही आलम्बनमें प्राप्त करनी चाहिये, नहीं तो पहली-पहली उपासनाको त्याग बैठनेका दोष प्राप्त होगा तथा चित्तकी चंचलताका दोष प्राप्त होनेकी भी नौबत आ जायगी। बात

---

१ प्रसादादेवोत्तर—पा. १ पु.। २ प्रसादाजितोत्तरभूमिषु—पा. २ पु.।

प्रसङ्गाच्च। तद्यथा, यद्विराट्शरीरं चतुर्भुजादिकं वा शरीरं[1] घटादिकं वा षड्विंशतितत्त्वसंघातं समष्टिव्यष्ट्यात्मकमधिकृत्य प्रथमं भावना प्रवर्तते तदालम्वनमित्युच्यते। तत्रालम्वने प्रथमं स्थूलाकारधारणाध्यानसमाधिभिर्यः स्थूलगताशेषविशेषाणामतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोषरूपाणामश्रुतामतानां साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते। स्थूलशब्देन च भूतानीन्द्रियाणि चात्र गृह्यन्ते। तपोजपादिसाधनैर्ध्रुवादीनां चतुर्भुजादिसाक्षात्कारादयं साक्षात्कारो विलक्षणः। तेषां हि तपोध्यानादिना तुष्टः परमेश्वरः स्वयं शरीरं निर्माय पुरः प्रकटीभूय वागादिव्यवहारं चक्रे। योगिनस्तु योगवलेन वैकुण्ठश्वेतद्वीपादि-

ऐसी है कि योगीकी भावना आरम्भमें जिस विराट् विग्रह, चतुर्भुजादि देवविग्रह अथवा घटादिके समान किसी छब्बीस तत्वों के समुदाय समष्टि या व्यष्टिरूप पदार्थको आश्रय बनाकर ही प्रवृत्त होती है, वही आलम्बन कहा जाता है। उस आलम्बनमें पहले जो स्थूल भागकी भूत, भविष्य, वर्तमान, ओझलमें रहनेवाली और दूरवर्ती गुण-दोषरूपा सम्पूर्ण विशेषताओंका, जिनको पहले न सुना हो और न जाना हो, साक्षात्कार होना है उसे ही 'वितर्क' कहते हैं। स्थूल शब्दसे यहाँ भूत और इन्द्रियाँ* ग्रहण की जाती हैं। तपस्या और जपादि साधनोंसे जो ध्रुवादिको चतुर्भुजादि भगवद्विग्रहोंका साक्षात्कार हुआ था उससे यह साक्षात्कार भिन्न प्रकारका है। उनके तो तप एवं ध्यानादिसे सन्तुष्ट होकर भगवान् स्वयं शरीर धारण करके उनके सामने प्रकट हुए थे और उनसे बातचीत आदि भी की थी। योगी लोग तो अपने

---

१ स्वशरीरं–पा. २ पु.।

* किन्हीं टीकाकारोंने इन्द्रियोंको आनन्दानुगत समाधिका आलम्बन माना है। इस मतका श्री विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिक (१।१७) में खण्डन किया है।

स्थमेव चतुर्भुजादिशरीरमन्यत्र स्थिताः पश्यन्ति । तत्र च वाग्व्यवहारादिकं न संभवति। तथा[1] चतुर्भुजादिशरीरस्य बाह्याभ्यन्तराखिलगुणदोषादिकमतीतादिरूपं पश्यन्तीति विशेषः इति वितर्को व्याख्यातः ।

अथ विचारो व्याख्यायते। तत्रैवालम्बने स्थूलाकारसाक्षात्कारानन्तरं स्थूलाकारदृष्टिं त्यक्त्वा क्रमेण प्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्माकारधारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेषविशेषतस्तत्त्वात्सूक्ष्माकारसाक्षात्कारः स विचार इत्युच्यते। सूक्ष्मशब्दस्य कारणार्थकतया तत्र[2] तन्मात्राहंकारमहत्तत्त्वप्रकृतयः सूक्ष्मशब्देन गृह्यन्ते।

ननु स्थूलालम्बने कथं सूक्ष्मदृष्टिर्यथार्था स्यादिति चेन्न । सर्वेषां शरीरघटादीनां षड्विंशतितत्त्वकार्यतया कार्यकारणाभेदेन

योगबलसे वैकुण्ठ और श्वेतद्वीपादिमें स्थित चतुर्भुजादि शरीरको ही अन्यत्र स्थित रहकर देख लेते हैं। वहाँ उनसे कोई वागादिका व्यवहार भी नहीं हो सकता। तथा उनमें इतनी विशेषता रहती है कि वे चतुर्भुजादि शरीरके बाहर-भीतर रहनेवाले भूत, वर्तमान और भावी सम्पूर्ण गुण-दोषादिको भी देख लेते हैं। यह वितर्ककी व्याख्या हुई।

अब विचारकी व्याख्या की जाती है। उसी आलम्बनमें स्थूलाकारके साक्षात्कारके पश्चात् स्थूलाकार दृष्टिको त्यागकर फिर क्रमसे प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्माकार धारणादि तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) के द्वारा जो पूर्ववत् सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित सूक्ष्माकारका साक्षात्कार है वह 'विचार' कहलाता है। 'सूक्ष्म' शब्द कारणवाचक है, अतः यहाँ सूक्ष्म शब्दसे तन्मात्र, अहंकार, महत्तत्व और प्रकृति ग्रहण की जाती हैं।

यदि कहो कि स्थूल आलम्बनमें सूक्ष्म दृष्टि यथार्थ कैसे हो सकती है तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शरीर एवं घट आदि सभी पदार्थ छब्बीस तत्त्वोंके कार्य हैं, अतः कार्य और कारणका अभेद होनेके

१ तथाऽस्य—पा. २ पु.। २ अत्र—पा. २ पु.।

षड्विंशतितत्त्वरूपत्वात् । तत्रापि कार्यरूपताया अस्थिरत्वेन कारणरूपताया एव सत्यत्वात् । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. ६.) इति श्रुतेः ।

ननु तथापि सूक्ष्माकारस्यादृष्टजातीयस्य कथं भावना स्यादिति चेत् ।

न । श्रुतमतप्रकारैरेव सामान्यतो भावनासंभवात् अश्रुतामतविशेषस्य च योगजधर्मबलेन ग्रहणात् । एवं सर्वत्र । इति विचारो व्याख्यातः ।

अथानन्दो व्याख्यायते । तत्रैवालम्बने सूक्ष्माकारसाक्षात्कारानन्तरं तामपि दृष्टिं त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगते सुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकार-

कारण वे सब छब्बीस तत्त्व रूप ही हैं। उसमें भी कार्यरूपता तो अस्थायी है, अतः कारणरूपता ही सत्य है; जैसा कि श्रुति कहती है— 'विकार (घटादि कार्य) वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है, सत्य तो [कारणरूपा] मृत्तिका ही है।'

प्रश्न—यदि ऐसा भी हो तो भी जो दृष्टिका विषय नहीं हो सकता उस सूक्ष्माकारकी भावना कैसे हो सकती है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। यद्यपि सामान्य रूपसे तो सुनी और समझी हुई वस्तुओंकी ही भावना हो सकती है, तथापि योगबलके द्वारा बिना सुने और बिना समझे हुए पदार्थोंको भी ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। यह विचार की व्याख्या हुई।

अब आनन्दकी व्याख्या की जाती है। उसी आलम्बनमें सूक्ष्माकारका साक्षात्कार करनेके पश्चात् उस दृष्टिको भी त्यागकर चौबीस तत्त्वोंमें अनुगत सुखरूप पुरुषार्थमें धारणादि तीनों करके जो पहले

साक्षात्कारः स आनन्द इत्युच्यते, ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात्। यद्यपि प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वेन सुखवद्दुःखमोहावपि सर्वत्र स्तः, तथापि सुखरागेणैव संसारादात्मदर्शनप्रतिबन्धाच्च तदेव मुख्यतोऽशेषविशेषतो योगेन द्रष्टव्यम्, यथा तत्र दोषदर्शनेन दुःखदृष्ट्या वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योग उपदिष्ट इति मन्तव्यम्। मोक्षधर्मे तु धर्मधर्म्यभेदेन धर्मान्तरवदानन्दमपि चतुर्विंशतितत्त्वेष्वेव प्रवेश्य संप्रज्ञातयोगस्य त्रैविध्यमेव प्रोक्तम्—

"वितर्कश्च विचारश्च विवेकश्चोपजायते।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं योगमादितः॥" इति।

प्रथमं योगं संप्रज्ञातं समादधानस्य कुर्वतः मुनेः आदितः क्रमेण वितर्कादित्रयं जायत इत्यर्थः। तत्र च विवेको वक्ष्य-

ही के समान सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित सुखका साक्षात्कार करना है वह 'आनन्द' कहलाता है, क्योंकि उपचारसे ज्ञान और ज्ञेयका अभेद स्वीकार किया गया है। यद्यपि प्रकृति त्रिगुणमयी होनेके कारण सुखकी तरह दुःख और मोह भी सर्वत्र हैं, तथापि सुखके रागसे ही संसारसे आत्मदर्शनका प्रतिबन्ध है, अतः योगद्वारा सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित उसीका साक्षात्कार करना चाहिये, जिससे कि दोषदर्शनके द्वारा दुःखदृष्टि होकर वैराग्य हो जाय। इसी आशयसे आनन्दमात्रमें योगका उपदेश किया है—ऐसा समझना चाहिये। [1]मोक्ष धर्ममें तो धर्म और धर्मीका अभेद मानकर धर्मान्तरके समान आनन्दको भी चौबीस तत्वोंके अन्तर्गत ही मानकर संप्रज्ञात समाधिके तीन भेद बतलाये हैं— 'प्रथम योगमें समाहित होनेवाले मुनिको आरम्भसे वितर्क, विचार और विवेककी उत्पत्ति होती है।' तात्पर्य यह कि प्रथम अर्थात् संप्रज्ञात योगमें समाहित—उसका अभ्यास करनेवाले मुनिको आरम्भसे—क्रमशः वितर्कादि तीन प्रकारके योग उत्पन्न होते हैं। इनमें विवेक आगे

---

1. महाभारत शान्तिपर्वका एक उपपर्व।

माणास्मितेति। इत्यानन्दो व्याख्यातः।

अथास्मिता व्याख्यायते। एवं भूमिकाक्रमेण स्थूलसूक्ष्मानन्दानां स्वरूपाणि दोषबहुलानि साक्षात्कृत्य तेभ्यो विरज्य तत्रैवालम्बने यः कूटस्थविभुचिन्मात्रत्वादिरूपैस्तेभ्यो विवेकत आत्माकारसाक्षात्कारः सोऽस्मितेत्युच्यते, 'देहादिभिन्नोऽस्मि' इत्येतावन्मात्रा[1]कारत्वात्। आत्मज्ञानानन्तरं च ज्ञातव्यं नास्तीत्यतोऽस्मिता चरमभूमिका भवति। अस्यैव चात्मसाक्षात्कारस्य पराकाष्ठा धर्ममेघसमाधिरित्युच्यते यस्योदये ज्ञानेऽप्यलं प्रत्ययरूपेण परवैराग्येण असंप्रज्ञातयोगो जायत इति।

अस्याश्चास्मिताया द्वौ विषयौ चतुर्विंशतितत्त्वविवेकत आत्मसामान्यं पञ्चविंशतितत्त्वविवेकतः परमात्मा च। तयोरप्यौत्सर्गिको आत्मसामान्यं भूमिकाक्रमोऽस्ति,

बतायी जानेवाली अस्मिता है। इस प्रकार आनन्द की व्याख्या हुई।

अब अस्मिताकी व्याख्या की जाती है। इस प्रकार भूमिका क्रमसे स्थूल सूक्ष्म और आनन्द रूपोंका, जिनमें अनेकों दोष हैं, साक्षात्कार करके उनसे वैराग्य होनेपर उसी आलम्बनमें जो कूटस्थ विभु एवं चिन्मात्र आदि रूपसे विवेक करके आत्माका साक्षात्कार किया जाता है वह 'अस्मिता' कहलाता है, क्योंकि 'मैं देहादिसे भिन्न हूँ' इतना ही उसका आकार होता है। आत्मज्ञानके पश्चात् और कुछ जानने योग्य नहीं रहता, इसलिये अस्मिता ही अन्तिम भूमिका है। इस आत्मसाक्षात्कारकी पराकाष्ठा ही धर्ममेघ समाधि कही जाती है, जिसका उदय होनेपर ज्ञानमें भी अलंबुद्धिरूप पर वैराग्यके द्वारा असंप्रज्ञात योग प्राप्त होता है।

इस अस्मिताके विषय दो होते हैं—(१) चौबीस तत्वोंके विवेक द्वारा आत्मसामान्य (पुरुष), (२) पच्चीस तत्वोंके विवेक द्वारा परमात्मा। इन दोनों साक्षात्कारोंका भी पहले ही के समान भूमिका

---

१ एतन्मात्रा—पा. २ पु.

"चतुर्विंशतितत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः।
विवेकात्केवलीभूतः षड्विंशं[1] सोऽनुपश्यति॥"

इति स्मृतेः। जीवापेक्षयापि परमात्मनः सूक्ष्मत्वाच्च। जीवस्य हि स्वरूपं[2] प्रत्यक्षमस्ति तत्रैव ज्ञानेऽपरिच्छिन्नकूटस्थत्वादि-ज्ञानस्यैवात्मसाक्षात्काररूपत्वात्। परमात्मनस्तु तदप्रत्यक्षमिति[3]। तत्रात्मसामान्यविषयको योगः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिशब्देन स्थले स्थले सूत्रभाष्ययोरुक्तः। परमात्मयोगस्तु 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'(यो. १. २३.) इति सूत्रेण तद्भाष्येण चोक्तः। तथा मात्स्यकौर्मयोरपि—

"योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिकः सांख्य एव च।
तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमुत्तममास्थितः॥

क्रम है, जैसा कि यह स्मृति कहती है—'चौबीस तत्वोंके विवेक द्वारा जो पच्चीसवाँ तत्व ज्ञात होता है उससे भी अलग होकर जो केवली भावमें स्थित हैं वह छब्बीसवें तत्व (परमात्मा) का साक्षात्कार कर लेता है।' इसके सिवा जीवकी अपेक्षा परमात्मा सूक्ष्मतर भी है, [इसलिये भी यह आगेकी भूमिका है।] जीवका स्वरूप तो प्रत्यक्ष ही है; उस जीवके अनुभवमें ही ऐसा ज्ञान होना कि यह अपरिछिन्न और कूटस्थ है—बस, यही आत्मसाक्षात्कारका स्वरूप है। किन्तु परमात्माका ज्ञान जीवको प्रत्यक्ष नहीं है। इसीसे आत्मसामान्यविषयक योगका वर्णन तो सत्त्वपुरुषान्यताख्याति शब्दसे सूत्र और भाष्य दोनों ही में जगह-जगह किया है। परन्तु परमात्म योगका तो केवल 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' इस सूत्र और इसके भाष्यद्वारा ही उल्लेख हुआ है। ऐसा ही मत्स्य और कूर्म पुराणोंमें भी कहा है—

'योगी तीन प्रकारका समझना चाहिये—(१) भौतिक, (२) सांख्य और (३) अन्त्याश्रमी, जो उत्तम योगमें स्थित तृतीय योगी

१ षड्विंशः–पा. १ पु.। २ स्वरूपज्ञानं–पा. २ पु.।
३ तदप्यप्रत्यक्षमिति–पा. २ पु.।

प्रथमा भावना पूर्वे सांख्ये त्वक्षरभावना ।
तृतीये चान्तिमा[1] प्रोक्ता भावना पारमेश्वरी ॥" इति ।

अत्र भूतशब्दोऽखिलजडोपलक्षकः[2] । अन्त्याश्रमी परमहंसः । प्रथमा भूतभावना । पूर्वे प्रथमयोगिनि । सांख्ये तु मध्यमयोगिन्यक्षरभावना कूटस्थचित्सामान्यभावना । तृतीये च परमहंसेऽन्तिमा अन्ते कर्तव्या पारमेश्वरी परमात्मगोचरा भावनेत्यर्थः । अतः सर्वेषु संप्रज्ञातेषु मध्ये पारमेश्वरयोग एव श्रेष्ठः । तथा कौर्मेऽप्युक्तम्—

यत्र पश्यसि[3] चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् ।
मामेकं स महायोगो भाषितः पारमेश्वरः ॥

कहा जाता है । पहले योगीमें प्रथमा (भूतसम्बन्धिनी) भावना रहती है, सांख्यमें अक्षरकी भावना रहती है और तीसरे योगमें परमेश्वरसम्बन्धिनी अन्तिम भावना कही गयी है ।

यहाँ 'भूत' शब्द सम्पूर्ण जड़वर्गका उपलक्षक है । अन्त्याश्रमी परमहंसको कहते हैं । प्रथमा—भूतसम्बन्धिनी भावना पूर्वमें प्रथम योगीमें रहती है । सांख्यमें अर्थात् मध्यम योगीमें अक्षर भावना—कूटस्थ चित्सामान्यकी भावना रहती है । तथा तीसरे—परमहंसमें अन्तिम—अन्तमें करने योग्य पारमेश्वरी अर्थात् परमात्माको विषय करनेवाली भावना रहा करती है—ऐसा इसका तात्पर्य है । अतः सब प्रकारके सम्प्रज्ञात योगोंमें पारमेश्वर योग ही श्रेष्ठ है । कूर्मपुराणमें भी ऐसा ही कहा है—

'जिस योगमें तुम मुझे एक नित्यानन्द, निरञ्जन आत्मा रूपसे देखते हो वह महायोग परमेश्वरसम्बन्धी कहा जाता है । सम्पूर्ण

---

१ चरमा–पा. २ पु. । २ लक्षणः–पा. १ पु. ।
३ पश्यति–पा. २ । ३ पु. ।

ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थविस्तरे।
सर्वे ते ब्रह्मयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्।
सर्वेषामेव योगानां स योगः परमो मतः॥" इति।

नन्वस्मितायाः कथमचेतनेषु घटाद्यालम्बनेषु संभव इति चेन्न। कारणरूपेण जीवेश्वरयोः सर्वत्रानुगमात्, मुक्तात्मनां च विभुत्वेन सर्वत्रानुगमादिति।

तदेवं संप्रज्ञातयोगस्य चत्वारो भेदा निरूपिताः[1]। तेषु च वितर्काद्याश्चत्वारः स्थूलादिसाक्षात्काराः समापत्तिशब्देनापि तन्त्रे परिभाषिताः। तत्र च वितर्कानुगतविचारानुगतयोर्यौ वितर्कविचारौ विशेषणे तावपि प्रत्येकं द्विविधौ भवतः। तयो-

ग्रन्थोंमें योगियोंके और जितने भी योग सुने जाते हैं वे इस ब्रह्मयोगकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं हो सकते। जिस योगमें युक्त पुरुष साक्षात् विश्वात्माका साक्षात्कार करते हैं, वह सभी योगोंमें श्रेष्ठ माना गया है।'

यदि कहो कि घटादि अचेतन आलम्बनोंमें अस्मिताका साक्षात्कार होना कैसे सम्भव है, तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि कारण रूपसे जीव और ईश्वर सभी जगह अनुगत हैं तथा विभु होनेके कारण मुक्तात्मा भी सर्वत्र व्याप्त हैं।

इस प्रकार संप्रज्ञात योगके चार भेदों का निरूपण हुआ। शास्त्र में ये स्थूलादि आलम्बनोंमें होनेवाले वितर्कादि चार साक्षात्कार 'समापत्ति' शब्दसे भी कहे गये हैं। इनमें वितर्कानुगत और विचारानुगत समापत्तियों में होनेवाले वितर्क और विचारसंज्ञक साक्षात्कारोंमें से प्रत्येकविशेष रूपसे दो-दो प्रकारका है। उनमें वितर्क सवितर्क और

---

१ प्रदर्शिताः—पा. ३ पु.।

वितर्कः सवितर्कनिर्वितर्करूपेण द्विधा। विचारश्च सविचारनिर्विचाररूपेण द्विधा। तद्यथा। भूतेन्द्रियरूपस्थूलसाक्षात्कारो योवितर्क इत्युक्तः स चेच्छब्दार्थज्ञानानां विकल्पेन मिश्रितो भवति तदा सवितर्कसमापत्तिरित्युच्यते। तेन शून्या च निर्वितर्कसमापत्तिरिति।

अथ कः शब्दार्थज्ञानविकल्प इति। उच्यते। हरिरिति शब्दो हरिरित्यर्थो हरिरिति ज्ञानम्, इत्येवं त्रयाणां शब्दार्थज्ञानानामेकाकारत्वेनाभेदभ्रमः पूर्वोक्तविकल्परूपः शब्दार्थज्ञानविकल्पः। तद्युक्तश्च स्थूलसाक्षात्कारः सवितर्कः सविकल्प[1] इति चोच्यते। तच्छून्यश्च स्थूलसाक्षात्कारो निर्वितर्को निर्विकल्प इति चोच्यते। निर्विशेषणात्मादिसाक्षात्कारो निर्विकल्प[2] इत्याधुनिकतार्किकप्रलापस्त्वप्रामाणिक एवेति मन्तव्यम्।

निर्वितर्करूपसे दो प्रकार का है तथा विचार सविचार एवं निर्विचाररूपसे दो प्रकार का। इसका विवरण इस प्रकार है—जो भूत और इन्द्रियरूप स्थूल साक्षात्कार वितर्क कहा गया है वह यदि शब्द अर्थ और ज्ञानके विकल्पसे मिला होता है तो वह सवितर्क समापत्ति कहा जाता है और उनसे शून्य होनेपर निर्वितर्क समापत्ति कहलाता है।

अब यह बतलाया जाता है कि यह शब्द अर्थ और ज्ञानका विकल्प क्या है। 'हरि' यह शब्द है, 'हरि' यह अर्थ है और 'हरि' यह ज्ञान भी है—इस प्रकार शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनमें जो अभेदरूपसे एकताका भ्रम हो रहा है वही पूर्वोक्त विकल्परूप शब्द अर्थ और ज्ञानका विकल्प है। इससे युक्त जो स्थूल वस्तुका साक्षात्कार है वह सवितर्क-सविकल्प कहा जाता है। तथा इससे शून्य स्थूल साक्षात्कार निर्वितर्क-निर्विकल्प कहलाता है। विशेषणशून्य आत्मा आदिका साक्षात्कार निर्विकल्प है—यह आज-कलके तार्किकोंका प्रलाप तो अप्रामाणिक ही है—ऐसा समझना चाहिये।

---

१ वितर्क इति—पा. १ पु.। सविकल्प—पा. ३ पु.।

२ निर्विकल्पक—पा. २ पु.।

अत्र[1] शब्दादिविकल्पो विकल्पसामान्योपलक्षकः, युक्तिसाम्यात्। तेन च सवितर्का समापत्तिरपरप्रत्यक्षमुच्यते, विकल्परूपाविद्यालेशसंपर्कात्। निर्वितर्का तु समापत्तिः परप्रत्यक्षमुच्यते[2], आरोपसामान्याभावात्। इति वितर्कस्य द्वैविध्यमुक्तम्।

विचारस्य द्वैविध्यमुच्यते। तन्मात्रादिप्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्मसाक्षात्कारो यो विचार इत्युक्तः स चेत्स्वस्वविकाराणां देशकालादीनां चानुभवेन मिश्रितो भवति तदा सविचारसमापत्तिरुच्यते। तेन शून्या च निर्विचारसमापत्तिरिति।

तदित्थं संप्रज्ञातस्य भेदा उक्ताः। सर्वे च ते[3] संप्रज्ञातयोगाः सालम्बनयोगा इति सबीजयोगा इति चोच्यन्ते, ध्येयरूपालम्बनयोगात्, तदाऽपि वृत्तिबीजसंस्कारोत्पत्तेश्चेति।

यहाँ शब्दादि विकल्प सामान्यतया विकल्पमात्रको उपलक्षित करानेवाला है, क्योंकि विकल्पमात्रमें एकही-सी युक्ति है। अतः सवितर्का समापत्ति अपर प्रत्यक्ष कही जाती है, क्योंकि उसके साथ वितर्करूप अज्ञानलेशका संपर्क रहता है, और निर्वितर्का समापत्ति पर प्रत्यक्ष कहलाता है, क्योंकि उसमें इस सामान्य आरोपका अभाव है। इस प्रकार वितर्कके दो प्रकारोंका निरूपण हुआ।

अब विचारकी द्विविधता बतलाते हैं। तन्मात्रोंसे लेकर प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म तत्त्वोंका जो साक्षात्कार 'विचार' कहा जाता है, वह यदि अपने विकार देश-काल आदिके अनुभवसे मिला हुआ होता है तो सविचार समापत्ति कहलाता है और जो उससे शून्य हो उसे निर्विचार समापत्ति कहते हैं।

इस प्रकार यह सम्प्रज्ञात योगके भेदोंका निरूपण हुआ। ये सभी सम्प्रज्ञात योग सालम्बन योग हैं, इसलिये सबीज योग कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें ध्येयरूप आलम्बनका सम्बन्ध रहता है और ऐसी स्थितिमें भी वृत्तिके बीजरूप संस्कारकी उत्पत्ति हो सकती है।

---

१ न च—पा. १ पु.। २ उच्यते—इति नास्ति १ पु.।
३ सर्वे चैते—पा. २। ३ पु.।

संप्रज्ञातयोगिनः चतुर्भूमिका भवन्ति। तद्यथा प्रथमकल्पिको[1] मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्च। तत्र सवितर्कसमापत्तिमान् प्रथमः, शब्दार्थज्ञानविकल्पापरित्यागात्। निर्वितर्कसमापत्तिमान् द्वितीयः। स च ऋतंभरप्रज्ञ इत्युच्यते, तत्प्रज्ञायामसदारोपसंपर्कासंभवात्। इयं च भूमिका मधुमत्यप्युच्यते। मधुवत् तृप्तिहेतुना प्रज्ञया योगात्। ततश्च क्रमेण निर्विचारसमापत्तिनिष्ठया प्रकृतिपर्यन्तजयी तृतीयः। अस्यामेव च भूमिकायामानन्दानुगतस्य प्रवेशः। ततश्चास्मितानुगतयोगनिष्पत्तिपर्यन्तश्चतुर्थः। अस्यांश्च भूमिकाया धर्ममेघाख्यसमाधिना परिसमाप्तिर्भवति। धर्ममेघसमाधिस्तु[2] तदोच्यते यदा सिद्धि-

संप्रज्ञात योगीकी चार भूमिकाएँ

संप्रज्ञात योगीकी चार भूमिकाएँ होती हैं यथा—प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय। इनमें पहला योगी सवितर्क समापत्तिवाला होता है, क्योंकि वह शब्द अर्थ ज्ञानरूप विकल्पका त्याग नहीं करता। दूसरा निर्वितर्क समापत्तिवाला होता है। वही ऋतम्भरप्रज्ञावाला कहा जाता है, क्योंकि उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) में असत् वस्तुके आरोपका सम्पर्क होना सम्भव नहीं है। यह भूमिका मधुमती भी कही जाती है, क्योंकि इसमें मधुके समान तृप्तिकी हेतुभूता प्रज्ञासे योग हो जाता है। इसके पश्चात् निर्विचार समापत्तिकी स्थितिद्वारा प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म तत्त्वोंपर अधिकार प्राप्त कर लेनेवाला योगी तीसरी भूमिकावाला कहा जाता है। इसी भूमिकामें आनन्दानुगत समापत्तिका प्रवेश होता है। फिर अस्मितानुगत योगकी निष्पत्तिपर्यन्त चौथी भूमिका होती है। इस भूमिकाकी परिसमाप्ति धर्ममेघसंज्ञक समाधिके रूपमें होती है। धर्ममेघसमाधि उस समय कही जाती है जब

---

१ प्राथमिको—पा. २ पु.। २ श्च-पा. १ पु.।

कामनात्यागेन निरन्तरोत्पन्नात् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिप्रवाहात् सवासनाविद्यानिवृत्त्या प्रयोजनाभावेन तस्यामपि ख्यातौ दुःखात्मिकायामलंप्रत्ययरूपं परवैराग्यं जायते यदुत्तरमसंप्रज्ञातयोग उदेतीति सर्वज्ञतादिजनकं प्रकृष्टं धर्मं मेहति वर्षतीति व्युत्पत्त्या धर्ममेघः समाधिरुच्यते। अस्यामवस्थायां जीवन्मुक्त इत्युच्यते।

नन्वेवं किं सर्वज्ञतादिकं विना जीवन्मुक्तिपरममोक्षौ न स्तः ?

न न स्तः, भाष्यवाक्यात्। तद्यथा। सर्वज्ञत्वपर्यन्ताखिलयोगसिद्धिव्याख्यानानन्तरं भाष्यम्— "ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा[1]

सिद्धियोंकी कामनाएँ त्याग देनेपर निरन्तर उत्पन्न हुए पुरुष-प्रकृतिके विवेकके प्रवाहद्वारा वासनासहित अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर कोई प्रयोजन न रहनेके कारण योगीको उस दुःखात्मिका विवेकख्यातिमें भी अलंबुद्धिरूप परवैराग्य प्राप्त होता है। उसके पश्चात् असंप्रज्ञात योगका उदय होता है। इस प्रकार यह सर्वज्ञतादिको उत्पन्न करनेवाले प्रकृष्ट धर्मरूप मेघकी वर्षा करती है, इस व्युत्पत्तिसे यह समाधि धर्ममेघ कही जाती है। इस अवस्थामें योगी 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है।

प्रश्न—इस प्रकार सर्वज्ञतादिके बिना क्या जीवन्मुक्ति* और परममुक्ति✓ की प्राप्ति नहीं होतीं ?

उत्तर—नहीं होतीं—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भाष्यका ऐसा ही वचन है; जैसा कि सर्वज्ञत्वपर्यन्त सम्पूर्ण योगसिद्धियोंकी व्याख्या करनेके पश्चात् भाष्य कहता है—'ईश्वर (सिद्धियोंके सहित) हो अथवा अनीश्वर (सिद्धिसे रहित) या जिसे विवेकजनित ज्ञान प्राप्त

---

१ च–पा. २ पु.।

* जीवित रहते हुए ही पुरुषख्यातिके कारण अपनेको मुक्तरूप अनुभव करना।

✓ देहत्यागके पश्चात् प्रकृति और प्राकृत पदार्थोंसे मुक्त हो जाना।

प्राप्तविवेकजज्ञानस्येतरस्य वा न दग्धक्लेशवीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति सत्त्वशुद्धिद्वारेण त्वेतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम्। परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते। तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरक्लेशाः। क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य [1]दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य कैवल्यम्।" (यो. भा. ३. ५५.) इति।

अत्र विवेकजज्ञानं विवेकख्यातेः सिद्धिः सर्वज्ञता पूर्वसूत्रप्रोक्ता। सत्त्वशुद्धिस्तु भुक्तवैराग्यमिति। अतः सार्वज्ञ्यादिपर्यन्तधर्ममेघसमाध्यनुत्पादेऽपि अभिमानरागद्वेषादिरूपभववीजदाहेनैव

हो गया है ऐसा कोई अन्य पुरुष हो, इस प्रकार जिसके क्लेशके बीजोंका दाह हो गया है उस पुरुषको ज्ञानके लिये किसी और स्थिति की अपेक्षा नहीं रहती। चित्तकी शुद्धिके द्वारा ही इस समाधिजनित ऐश्वर्य और ज्ञानकी प्राप्ति बतायी गयी है। वस्तुतः तो ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है और उसके निवृत्ति होनेपर आगेके* क्लेश नहीं होते तथा क्लेश न रहनेपर कर्मोंका परिणाम नहीं होता। इस प्रकार अधिकार समाप्त हो जानेके कारण इस अवस्थामें गुण पुरुषके दृश्यरूपसे सामने नहीं आते। यही पुरुषका कैवल्य है।

यह जो विवेकज ज्ञान है वह पूर्वसूत्रमें कही हुई विवेकख्यातिकी सर्वज्ञतारूप सिद्धि है और भोगी हुई वस्तुओंके प्रति वैराग्य होना ही चित्तकी शुद्धि है। अतः सर्वज्ञतादिपर्यन्त धर्ममेघ समाधिकी उत्पत्ति न होनेपर भी अभिमान एवं राग-द्वेषादि संसारके बीजोंका दाह हो जानेके

---

१ ज्ञेयत्वे—पा. १ पु.।

* अविद्यासे आगेके अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश संज्ञक चार क्लेश।

मुक्तिद्वयमिति सांख्यसिद्धान्तोऽत्राप्यनुमतः[1]। असंप्रज्ञातयोगस्तु अखिलवासनाक्षयेण प्रारब्धातिक्रमद्वारा झटिति स्वेच्छया मोक्ष एवोपयुज्यते न तु नियमेनेति प्रागेवोक्तम्। इति संप्रज्ञातः प्रपञ्चितः।

इदानीमसंप्रज्ञातः प्रपञ्च्यते। असंप्रज्ञातयोगो द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। शास्त्रोक्तोपायानुष्ठानादिहैव लोके योऽसंप्रज्ञातो जायते स उपायप्रत्ययः, प्रत्ययशब्दस्य कारण-वाचित्वात्। उपायाश्च श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञारूपा इति (यो. १. २०,) सूत्रेणोक्ताः। तत्र श्रद्धा योगे प्रीतिः। वीर्यं चित्तस्य धारणा। स्मृतिर्ध्यानम्। समाधिर्योगस्य चरमाङ्गम्।

कारण ही दोनों प्रकारकी मुक्तियाँ हो सकती हैं—इसप्रकार यहाँ भी सांख्यके सिद्धान्तसे भाष्यका एक ही मत है। किन्तु यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि असंप्रज्ञात योग तो सम्पूर्ण वासनाओंके क्षय-द्वारा प्रारब्धका भी अतिक्रमण करके स्वेच्छासे तत्काल ही मोक्ष दिलानेमें उपयोगी है, उसमें किसी नियमकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योगकी व्याख्या हुई।

असंप्रज्ञात योग

अब असंप्रज्ञात योगकी व्याख्या की जाती है। असंप्रज्ञात योग दो प्रकारका है। उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय। शास्त्रोक्त उपायोंके अनु-ष्ठानद्वारा जो असंप्रज्ञातयोग इस लोकमें ही प्राप्त होता है वह उपाय-प्रत्यय कहा जाता है। यहाँ 'प्रत्यय' शब्द कारणवाची है। उपाय श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञारूप हैं—इस प्रकार प्रथमपादके बीसवें सूत्रमें बताये गये हैं। इनमें श्रद्धाका अर्थ है योगमें प्रीति होना, वीर्य चित्तकी धारणाको कहते हैं, स्मृति ध्यानका नाम है, समाधि योगका अन्तिम अंग है और प्रज्ञा संप्रज्ञातयोगजनित साक्षात्कारको

---

१ अनुमन्तव्यः—पा. २ पु.। उपपादितः—पा. ३ पु.।

प्रज्ञा संप्रज्ञातयोगजन्यसाक्षात्कारः। एतानि क्रमेण वक्ष्यमाण-परवैराग्यद्वारेण असंप्रज्ञातस्योपाया भवन्ति। तेषां चोपाया-नामतिशीघ्रतीव्रतरानुष्ठानादासन्नतरोऽसंप्रज्ञातपर्यन्तयोगस्तत्फलं मोक्षश्च भवति। उपायानुष्ठानमान्द्येऽपि चेश्वरप्रणिधानादासन्नतरौ तौ भवतः, परमेश्वरप्रणिधानेन तदनुग्रहादिति।

अथ क ईश्वरः किं वा तत्प्रणिधानम्?

उच्यते। अविद्यादिपञ्चक्लेशैर्धर्माधर्मैस्तद्विपाकैः संस्कार-सामान्यैश्च कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। स च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र. १. १. १.) इत्यादिवेदान्तसूत्रैरशेष-विशेषतो मीमांसितः। अतोऽत्र दिङ्मात्रेणोच्यते। तस्य साम्यातिशयशून्यमैश्वर्यं सार्वज्ञ्यं च, स च सर्वेषां ब्रह्मविष्णु-

कहते हैं। ये सब आगे बताये जानेवाले पर वैराग्यके द्वारा क्रमशः असंप्रज्ञात योगके कारण होते हैं। इन उपायोंके अत्यन्त शीघ्र और तीव्रतर अनुष्ठानके द्वारा असंप्रज्ञातयोग और उसका फल मोक्ष अत्यन्त समीप हो जाते हैं। तथा इन उपायोंके अनुष्ठानमें शिथिलता रहनेपर भी ईश्वरप्रणिधानके द्वारा वे समीपतर हो सकते हैं, क्योंकि परमा-त्माकी भक्ति होनेपर उनका अनुग्रह होता है।

ईश्वर और ईश्वरप्रणिधान

प्रश्न—अच्छा तो, यह ईश्वर कौन है और उसका प्रणिधान क्या है?

उत्तर—बतलाते हैं। अविद्यादि पांच क्लेश, धर्म-अधर्म और और उनके परिणाम तथा संस्कारमात्रसे जो तीनों कालोंमें अस्पृष्ट है उस पुरुषविशेषका नाम ईश्वर है। उसका 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि वेदान्तसूत्रों द्वारा सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित विचार किया गया है। अतः यहाँ उसका केवल संकेतमात्र वर्णन किया जाता है। उसके ऐश्वर्य और सर्वज्ञतासे किसीके भी ऐश्वर्य और सर्वज्ञताकी

हरादीनामपि गुरुः पिता, अन्तर्यामिविधया वेदादिद्वारा[1] च ज्ञानचक्षुःप्रदश्च ; तस्य प्रणवो नाम ; प्रणवपूर्वकं च तदनुचिन्तनं साक्षात्कारपर्यवसायि प्रणिधानमिति। परमेश्वरे संयमोऽसंप्रज्ञात-पर्यन्तयोगे मोक्षे च मुख्यकल्पः, आसन्नतरतासंपादनात् ; जीवात्मसंयमस्तु तत्रानुकल्प इति सिद्धम्। किं च, ईश्वरप्रणिधानाद्व्याध्यादिरूपा योगस्यान्तराया अपि न भवन्ति। अतोऽपि तदेव मुख्यकल्प इति। तथा चास्य मुख्यकल्पत्वं स्मर्यते—

"तस्मान्मुमुक्षोः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः।
चित्तेन चिन्तयन्नेव वञ्च्यते ध्रुवमन्यथा॥" इति।

तदेवमुपायप्रत्ययो व्याख्यातः।

समानता या विशेषता नहीं है। वह ब्रह्मा विष्णु और महादेव आदि सभीका गुरु और पिता है, क्योंकि अन्तर्यामी होनेके कारण तथा वेदादिके द्वारा भी वही उन्हें ज्ञाननेत्र प्रदान करनेवाला है। प्रणव उसका नाम है, अतः प्रणवपूर्वक उसका निरन्तर चिन्तन ही साक्षात्कार-रूपमें सम्पूर्ण होनेवाला ईश्वरप्रणिधान है। अतः परमेश्वरमें संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करना असंप्रज्ञात योग और मोक्षका मुख्य साधन है; क्योंकि इससे उनकी अत्यन्त समीपता हो जाती है। जीवात्मामें संयम करना तो इसका गौण साधन है—यह बात सिद्ध ही है। इसके सिवा ईश्वरप्रणिधानसे व्याधि आदि योगके विघ्न भी नहीं होते। इसलिये भी वही मुख्य साधन है। तथा इसकी मुख्य साधनताके विषयमें यह स्मृति भी है—

'अतः मुमुक्षुके लिये भगवान् श्री विष्णुका आश्रय बड़ा सुखमय मार्ग है। बस, चित्तसे उनका चिन्तन ही करता रहे। नहीं तो निश्चय ही धोखा खायगा।'

इस प्रकार उपायप्रत्ययकी व्याख्या हुई।

---

१ वरादिद्वारा—पा. ३ पु.।

अथ भवप्रत्ययो व्याख्यायते। प्राग्भवीयसाधनानुष्ठानजन्मा-दौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याभ्यामिच्छामात्रेण योऽसंप्रज्ञातो विदेह-प्रकृतिलयानां देवताविशेषाणां जायते स भवप्रत्यय उच्यते, जन्ममात्रकारणकत्वात्। यथा हिरण्यगर्भादीनां योगनिद्रा-दिकम्। तत्र विदेहा नाम स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिल-व्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः। ये तु प्रकृत्युपासनया तच्छबल-परमेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्त्वा महत्तत्त्वपर्यन्तावरणान्य-तीत्य प्रकृत्यावरणं गता ईश्वरकोटयस्ते प्रकृतिलयाः उच्यन्त इति।

संप्रज्ञातयोगस्य तु भवप्रत्ययरूपविशेषो न संभवति, धारणाध्यानसमाधीनां संप्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गत्वेन तेषां निष्पत्तौ तस्मिन्नेव जन्मनि संप्रज्ञातावश्यंभावात्। अतः संप्रज्ञाते उपायप्रत्ययभवप्रत्ययविभागः सूत्रभाष्ययोर्न कृत इति।

अब भवप्रत्यय की व्याख्या की जाती है। पूर्वजन्मोंमें साधनोंका अनुष्ठान करनेसे जो विदेह और प्रकृतिलयसंज्ञक देवताविशेषोंको जन्मसिद्ध ज्ञान और वैराग्यके कारण इच्छामात्रसे ही असंप्रज्ञात योग प्राप्त हो जाता है वह भवप्रत्यय कहा जाता है, क्यों कि उसका कारण जन्ममात्र होता है, जैसे कि हिरण्यगर्भादिको योगनिद्रादि प्राप्त हैं। जो स्थूल देहके विना केवल लिंग देहसे ही व्यापार करनेमें समर्थ हैं वे हिरण्यगर्भादि 'विदेह' कहलाते हैं। और जो प्रकृति या प्रकृति-विशिष्ट परमात्माकी उपासनाके कारण ब्रह्माण्डका भेदन कर महत्तत्त्व-पर्यन्त सम्पूर्ण आवरणोंको पार करके प्रकृतिके आवरणमें पहुँच गये हैं वे ईश्वरकोटिके पुरुष 'प्रकृतिलय' कहे जाते हैं।

संप्रज्ञात योगका भवप्रत्ययरूप भेद नहीं हो सकता, क्योंकि धारणा ध्यान और समाधि संप्रज्ञातयोगके अन्तरंग साधन हैं, अतः उनके पूर्ण होनेपर उसी जन्ममें संप्रज्ञात योग अवश्य प्राप्त हो जाता है। इसीसे सूत्र और भाष्यमें संप्रज्ञातयोगके उपायप्रत्यय और भवप्रत्ययरूप विभाग नहीं किये।

, स च द्विविधोऽप्यसंप्रज्ञातो ध्येयाभावान्निरालम्बनयोग उच्यते। अभ्यस्यमानश्च क्रमेणाखिलसंस्कारदाहकत्वान्निर्बीजयोग उच्यते।

असंप्रज्ञातयोगो हि निरोधरूपोऽपि नवनवसंस्कारातिशयमभ्यासाज्जनयति, येन संस्कारतारतम्येन दिनपक्षमासादिपर्यन्तकालवृद्धिः क्रमेण योगस्य भवति। स संस्कारो यथा यथाऽतिशेते तथा तथा तत्त्वज्ञानपर्यन्ताखिलवृत्तिसंस्कारांस्तनूकरोति। एवं क्रमेण चरमासंप्रज्ञातेऽखिलसंस्कारदाहो भवति। ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमाप्तौ समर्थम्, भोगसंस्कारसहकार्यभावात् 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (बृ. ४. ४. २.) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायैर्जन्मादिविपाके पूर्वप्रज्ञाशब्दोक्तस्य प्राग्भवीयभोगसंस्कारस्य विद्याकर्मसहका-

यह असंप्रज्ञात योग दो प्रकारका होनेपर भी ध्येयका अभाव रहनेके कारण निरालम्बयोग कहलाता है। तथा अभ्यास किया जानेपर क्रमशः सम्पूर्ण संस्कारोंका दाह करनेवाला होनेसे निर्बीज योग भी कहा जाता है।

असंप्रज्ञातयोग निरोधरूप होनेपर भी अभ्यासके द्वारा नवीन-नवीन संस्काररूप अतिशय (विशेषता) उत्पन्न करता है, जिससे कि संस्कारके तारतम्यानुसार योगकालकी क्रमशः दिन, पक्ष और मासादिपर्यन्त वृद्धि हो जाती है। वह संस्कार जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे ही तत्त्वज्ञानपर्यन्त वृत्तिके सभी संस्कारोंको तनु (मंद) कर देता है। इस प्रकार क्रमशः असंप्रज्ञातकी चरमावस्था आनेपर सभी संस्कारोंका दाह हो जाता है। तब प्रारब्ध कर्म भी अपने भोगको पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं रहता, क्योंकि भोगके सहकारी संस्कारोंका अभाव हो जाता है, कारण कि 'उसके प्रति विद्या और कर्म उपस्थित होते हैं तथा पूर्वप्रज्ञा भी' इत्यादि श्रुति स्मृति और युक्तिसे जन्मादि भोगमें 'पूर्वप्रज्ञा' शब्दसे कहे हुए पूर्व जन्मके भोगसंस्कार विद्या और कर्मके सहकारी

रित्वसिद्धेः। ततश्चरिताधिकारं चित्तं प्रारब्धकर्मणा निरोध-संस्कारैश्च सह स्वकारणेऽत्यन्तं लीयते। या चेयं चित्तस्य महानिद्रा, इयमेव पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिको दुःखात्मकाखिल-दृश्यवियोगः, चित्तद्वारैव पुरुषस्य दृश्यरूपद्वितीयसंबन्धादिति। तथा च स्मर्यते—

"मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः।" इति।

तत्त्वज्ञानमात्रान्मोक्षे तु प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरं तत्त्वज्ञान-संस्कारोऽपि चित्तेन सहैव नश्यतीति विशेषः। इदमत्रावधेयम्। ज्ञानं योगश्चोभयमपि व्यापारभेदात्स्वातन्त्र्येण मोक्षकारणमत्र शास्त्रे विवक्षितम्। गीतादिषु चोक्तम्—

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥"

(गी. ५. ५.)

सिद्ध होते हैं। फिर तो अधिकार समाप्त हो जाने के कारण चित्त प्रारब्धकर्म और निरोध संस्कारोंके सहित अपने कारणमें सर्वथा लीन हो जाता है। यह जो चित्तकी महानिद्रा है वही पुरुषका कैवल्य—दुःखात्मक सम्पूर्ण दृश्यका आत्यन्तिक वियोग है, क्योंकि चित्तके द्वारा ही पुरुषको दृश्यरूप दूसरी वस्तुका सम्बन्ध होता है। ऐसी स्मृति भी है—'मनका अभ्युदय ही [आत्माका] नाश है और मनका नाश ही [आत्माका] अभ्युदय है।'

जहाँ तत्त्वज्ञानमात्र से मोक्ष माना जाता है वहाँ इतना अन्तर रहता है कि प्रारब्ध समाप्तिके अनन्तर चित्तके साथ ही तत्त्वज्ञानके संस्कारका भी नाश होता है। यह बात यहाँ ध्यानमें रखनी चाहिये कि यहाँ शास्त्रमें ज्ञान और योग दोनों हीको व्यापारभेदसे स्वतन्त्रतापूर्वक मोक्षका कारण बतलाना अभीष्ट है। गीताआदिमें भी 'सांख्यके द्वारा जो स्थान प्राप्त होता है उसपर योगसे भी पहुँच सकते हैं। जो पुरुष सांख्य और योगको एक देखता है वही [वास्तवमें] देखता है।'

इत्यादिभिः। सांख्यं विवेकसाक्षात्कारः। योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः। अतः केवलज्ञानेन मोक्षे जनयितव्येऽभिमाननिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्त एव संप्रज्ञातोऽपेक्ष्यते न तु वृत्त्यन्तरवासनाक्षयाद्यर्थं पुनः संप्रज्ञातपरम्पराऽपि, प्रारब्धसमाप्तौ सत्यां ज्ञानवासनावत्[1] इतरवासनानामपि चित्तेन सहैव विनाशादिति दिक्।

इत्यादि वाक्य से यही बात कही है। सांख्य विवेकजनित साक्षात्कार है और योग चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है। अतः जब मोक्ष केवल ज्ञानसे उत्पन्न होता है तो वहाँ अभिमानकी निवृत्ति करनेवाले आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त हा संप्रज्ञात योगकी अपेक्षा होती है, अन्य वृत्तियों और वासना आदिके क्षयके लिये सम्प्रज्ञातयोगकी परम्पराकी भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि [उस सिद्धान्तके अनुसार तो] प्रारब्धकी समाप्ति होनेपर ज्ञानकी वासनाके समान अन्य वासनाओंका भी चित्तके साथ ही नाश हो जाता है—यह बात यहाँ दिखायी गयी।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे[2] योगस्वरूपस्य तत्प्रयोजनस्य च निरूपणं प्रथमोंऽशः।

---

१ संप्रज्ञातवासनावत्—पा. २ पु.। २ योगसारे—पा. २–३ पु.।

अथ द्वितीयोंऽशः ।

योगस्य स्वरूपं निरूपितम् । इदानीं योगस्य साधनानि वक्ष्यामः । तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढरूपाः । तेषां त्रिविधानि साधनानि सूत्रभाष्याभ्यामुक्तानि । तेषु मन्दमध्यमयोः साधनान्यग्रे वक्ष्यामः सौत्रक्रमात् । उत्तमाधिकारिणस्तु सौत्रक्रमेणैवादावुच्यन्ते ।

उत्तमाधिकारिणस्त एव ये पूर्वभवानुष्ठितवहिरङ्गसाधनतया तन्नैरपेक्ष्येणैव योगारूढाः । यथा जडभरतादयः । तेषां योगनिष्पत्तावभ्यासवैराग्ये एव मुख्यसाधनम् । न तु वक्ष्यमाणः क्रिया-

द्वितीय अंश

योगके साधन

योगके स्वरूपका निरूपण किया गया, अब हम योगके साधनोंका वर्णन करेंगे । योगके मन्द, मध्यम और उत्तम भेदसे आरुरुक्षु, युञ्जान और योगारूढरूप तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं । उनके सूत्र और भाष्य द्वारा तीन ही प्रकारके साधन बताये गये हैं । उनमें मन्द और मध्यम अधिकारियोंके साधन तो सूत्रोंके क्रमानुसार हम आगे कहेंगे । पहले सूत्रोंके क्रमसे ही उत्तम अधिकारीके साधन बताये जाते हैं ।

उत्तम अधिकारी तो वे ही हैं जो पूर्वजन्मोंसे अनुष्ठान किये हुए बहिरंग साधनोंके कारण अब उनकी अपेक्षाके बिना ही योगारूढ हो गये हैं, जैसे कि जडभरत आदि । उनके योगसम्पादनमें अभ्यास और वैराग्य ही मुख्य साधन हैं । उनके लिये आगे बतलाये जाने वाले

योगी वक्ष्यमाणानि योगबहिरङ्गाणि वाऽऽवश्यकानि, 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (यो १. १२.) इति सूत्रात् सोपकरणे अभ्यासवैराग्ये व्याख्याय [1]"उपदिष्टः समाहितचित्तस्य योगः; कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदर्थमिदमारभ्यते" इत्येव भाष्यकृता क्रियायोगादिरूपसाधनसूत्राणामवतारणाच्च । तथा,

" आरुरुक्षुयतीनां च कर्मज्ञाने उदाहृते ।
आरूढयोगवृक्षाणां ज्ञानत्यागौ परौ मतौ ॥ "

इति गारुडाच्च । जडभरतादीनां तथैवाचाराच्च ।

त्यागोऽत्र प्रकृतत्वाद्योगान्तरायस्य कर्मणः । तदुक्तं मोक्षधर्मे—

क्रियायोग अथवा योगके बहिरंग साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि भाष्यकारने 'अभ्यास और वैराग्य द्वारा उस चित्तका निरोध होता है।' इस सूत्र द्वारा साधन सामग्रीके सहित अभ्यास और वैराग्यकी व्याख्या कर फिर क्रिया योगादि साधनोंका प्रतिपादन करने-वाले सूत्रोंकी इस प्रकार अवतारणा (भूमिका) की है—'समाहित चित्त पुरुषके योगका तो उपदेश हो चुका, अब इस उद्देश्यसे कि व्युत्थितचित्त पुरुष भी किस प्रकार योगयुक्त हो सकता है यह (आगेका प्रकरण) आरम्भ किया जाता है।' तथा गरुड पुराणमें भी कहा है—'आरुरुक्षु यतियोंके लिये तो कर्म और ज्ञान बताये गये हैं। और जो योगवृक्षपर आरूढ़ हो चुके हैं उनके लिये तो ज्ञान और त्याग ही श्रेष्ठ माने गये हैं।' तथा जडभरत आदिने भी ऐसा ही आचार किया था।

'त्याग' शब्दसे यहाँ प्रकरणके अनुसार योगके विघ्नस्वरूप कर्मोंका त्याग समझना चाहिये। मोक्ष धर्ममें कहा भी है—'जीव कर्मसे

[1] उद्दिष्टः—पा. २ । ३ । पु. ।

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च[1] विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥"

इति । अनुगीतायां च—

"अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः ।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारीति कथ्यते ॥
ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्म विष्टरः ।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥" इति ।

गारुडे च—

"आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः ।
विलम्बजननाः सर्वे विस्तराः परिकीर्तिताः ।
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात् ॥" इति ।

अत्र बाह्यकर्मणामेव योगान्तरायत्वात्[2] त्यागो विवक्षितो न त्वान्तरस्य ।

बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसलिये पारदर्शी यतिजन कर्म नहीं करते ।' अनुगीतामें भी कहा है—'जो व्रत और कर्मोंसे रहित केवल ब्रह्ममें ही स्थित है, वह ब्रह्मभूत पुरुष लोकमें व्यवहार करते हुए भी 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है। ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही आसन है, ब्रह्म ही जल है और ब्रह्म ही गुरु है। इस प्रकार वह ब्रह्ममें ही समाहित है ।' गरुड पुराणमें भी कहा है—'आसन और स्थानकी विधियाँ योगको सिद्ध करानेवाली नहीं हैं। जितने भी विस्तार हैं वे सब उसमें देरी करनेवाले ही बताये गये हैं। शिशुपालने तो स्मरणके अभ्यासकी अधिकतासे ही मोक्ष प्राप्त कर लिया था' ।

योगके विघ्न होनेके कारण यहाँ बाह्य कर्मोंका ही त्याग बतलाना अभीष्ट है आन्तर कर्मोंका नहीं, क्योंकि मनु आदि स्मृतियोंमें 'कोई

---

१ तु—पा. २ । ३ पु. । २ योगान्तरायतया—पा. १ । २ पु. ।

"एतानेके महायज्ञान्योगशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥"

इति [1]मन्वादिष्वनीहमानस्यापि योगिनोऽन्तर्यागविधानात्, आवश्यकभिक्षाटनस्नानादावन्तर्यागस्याविक्षेपकत्वेन फलेच्छाभिमानशून्यत्वेन च योगिनामबन्धकत्वाच्चेति दिक् ।

योगस्योत्तमाधिकारी च योगारूढो गीतायां लक्षितः—

"यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥" (गी.६.४.)

इति । योगारूढस्य च पारमहंस्येन योगाभ्यासो राजमार्गः, 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ. ४. ४.), 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ

पुरुष योग शास्त्रके ज्ञाता होने पर भी बाहरसे निश्चेष्ट रहकर इन महायज्ञोंका अपनी इन्द्रियोंमें ही निरन्तर हवन करते रहते हैं' इत्यादि वाक्योंद्वारा कर्मत्यागी योगीके लिये भी आन्तर यागोंका विधान किया है, कारण कि आन्तर याग [शरीर निर्वाहके लिये] आवश्यक भिक्षाटन और स्नान आदिमें विक्षेप करनेवाले नहीं हैं तथा फलकी इच्छा और अभिमानसे शून्य होनेके कारण योगियोंके लिये बन्धनके कारण भी नहीं हैं।

योगके उत्तम अधिकारी योगारूढका गीतामें इस प्रकार लक्षण किया है—'जब पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंमें तथा कर्मोंमें आसक्त नहीं होता और सब प्रकारके संकल्पोंको त्याग देता है तब योगारूढ कहा जाता है।' इस योगारूढके लिये भी संन्यासपूर्वक योगका अभ्यास करना राजमार्ग है, क्योंकि 'इसी लोककी इच्छा करते हुए परिव्राजक लोग संन्यास ग्रहण करते हैं' पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे

---

१ मन्त्रा–पा. पु ।

भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ. ३. ५.), 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ. ४. ४.) इत्यादि श्रुतिस्मृत्योस्तद्दर्शनादिति।

तत्राभ्यासश्चित्तस्य स्थितौ यत्नः। स्थितिश्च योगचरमाङ्गसमाधिर्निश्चलैकाग्रताधारारूपः,

"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥"
(गी. २. ५२.)

इति गीतादिभ्यः। तस्यां स्थितौ यत्नः तदर्थः प्रयासो ध्येयाद्बहिर्गच्छतश्चित्तस्य पुनः पुनरानयनम्। तदुक्तं गीतायाम्—

"यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥"
(गी. ६. २६.) इति।

ऊपर उठकर भिक्षाचर्या करते हैं' एवं 'अतः ऐसा जाननेवाला पुरुष शान्त, जितेन्द्रिय, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर अपनेमें ही आत्माका साक्षात्कार करे' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे यही बात देखी गयी है।

उन [अभ्यास और वैराग्य] में चित्तको स्थितिमें रखनेका प्रयत्न अभ्यास है। यह स्थिति योगका अन्तिम अङ्ग समाधि है, जो निश्चल एकाग्रताकी धारारूप है। ऐसा ही गीताजी आदिसे भी सिद्ध होता है—'जिस समय श्रुतिवाक्योंद्वारा डावाँ-डोल हुई तेरी बुद्धि निश्चल होकर समाधिमें अचल भावसे ठहर जायगी उस समय तू योग प्राप्त कर लेगा।' उस स्थितिमें प्रयत्न—उसके लिये परिश्रम करना अर्थात् ध्येयसे बाहर जाते हुए चित्तको बार बार खींचकर लाना ही अभ्यास है। यही गीतामें भी कहा है—'यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ निकलकर जाय इसे वहीं वहीं से रोककर आत्माके ही अधीन कर दे।'

"वैराग्यं च अलंबुद्धिः, न तु रागाभावमात्रम्, विषयासांनिध्यादिना रागाभावे विरक्तत्वापत्तेः। तच्च वैराग्यं द्विविधं परमपरं च।

तत्रार्जनरक्षणक्षयहिंसाद्यनन्तदोषदर्शननिमित्तकमैहिकामुष्मिकविषयेषु वैतृष्ण्यमपरं वैराग्यम्। तदपि चतुर्विधं यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति। तत्र वैराग्यसाधनस्य दोषदर्शनस्याभ्यासो यतमानसंज्ञानाम्नी वितृष्णावैराग्यस्य प्रथमभूमिका। ततो जितान्येतानीन्द्रियाणि[1] तानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणावस्था व्यतिरेकसंज्ञा। ततश्च बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागादिक्षये सति, एकस्मिन्नेव मनसि मानावमानादिविषयकरागद्वेषादिनिरसनमेकेन्द्रियसंज्ञा।

विषयोंमें अलंबुद्धि (पर्याप्तबुद्धि) का नाम वैराग्य है; यह रागका अभावमात्र नहीं है, क्योंकि फिर तो विषयों की सन्निधि आदि न होनेसे भी रागका अभाव होनेके कारण विरक्ति मान ली जायगी। और वह वैराग्य दो प्रकार का है--पर एवं अपर।

उपार्जन, रक्षण, क्षय और हिंसा आदि अनन्त दोषोंको देखनेके कारण जो लौकिक और पारलौकिक विषयोंमें तृष्णाका अभाव हो जाना है वह अपर वैराग्य है। वह भी चार प्रकारका है---यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा। सो, वैराग्यके साधनभूत दोषदर्शनका अभ्यास ही यतमान संज्ञा नामकी वितृष्णा है, जो वैराग्यकी प्रथम भूमिका है। फिर 'ये इन्द्रियाँ तो जीत लीं और वे अभी जीतनी हैं'---इस प्रकार व्यतिरेकनिश्चयकी अवस्था व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्य है। तदनन्तर बाह्य इन्द्रियोंके विषय रूपादिमें रागादिका अभाव हो जानेपर एकमात्र मनमें ही स्थित मानापमानविषयक राग-द्वेषादिको निकालते रहना एकेन्द्रियसंज्ञा वैराग्य है। अन्तमें

---

१ जितानीन्द्रियाणि---पा. २। ३ पु.।

ततश्च विषयस्य मानावमानादेश्च सांनिध्यकालेऽपि सर्वेन्द्रियाणां चित्तस्य चाक्षोभो वशीकारसंज्ञेति। सर्वत्र संज्ञाशब्दोऽभिव्यक्त्यर्थः। तेन स्फुटता लभ्यते। एतेषु चतुर्विधवैराग्येषु[1] वशीकारसंज्ञैव योगारूढस्यानुष्ठेया, पूर्वस्य वैराग्यत्रयस्य युञ्जानावस्थायामेव सिद्धत्वादिति।

अपरं वैराग्यनुक्तम्। परं वैराग्यमुच्यते। आत्मानात्मविवेकसाक्षात्काराद‌नात्मत्वदृष्ट्या, ज्ञानफलस्य वाऽविद्यानिवृत्तेः सिद्ध्या, तत्त्वज्ञानपर्यन्तेषु सर्वदृश्येषु पूर्वोत्पन्नदोषदर्शनेनैव दोषान्तरदर्शननिरपेक्षेणालंबुद्धिः परं वैराग्यम्। एतदनन्तरमेव मोक्षस्यावश्यकतयाऽस्य परत्वमिति।

अभ्यासवैराग्ये व्याख्याते। एतयोश्च मध्ये वैराग्येण

इन्द्रियोंके विषय और मानापमानादिके सम्मुख रहनेके समय भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंका और मनका क्षोभहीन रहना वशीकारसंज्ञा वैराग्य है। यहाँ 'संज्ञा' शब्द सभी जगह अभिव्यक्तिके अर्थमें है। इससे [उन उन स्थितियोंकी] अभिव्यक्ति सूचित होती है। इन चार प्रकारके वैराग्योंमेंसे योगारूढ़को केवल वशीकारसंज्ञा वैराग्यका ही अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि पहले तीन वैराग्य तो युञ्जान अवस्थामें ही सिद्ध हो जाते हैं।

उपर वैराग्यका वर्णन हुआ। अब पर वैराग्य बतलाते हैं—आत्मा और अनात्माके विवेकका साक्षात्कार हो जानेसे अनात्मत्वदृष्टिके द्वारा अथवा ज्ञानकी फलस्वरूप अविद्यानिवृत्तिकी निष्पत्तिद्वारा तत्वज्ञानपर्यन्त सभी दृश्योंमें, अन्य दोषदर्शनके बिना केवल पूर्वोत्पन्न दोष दृष्टिसे ही, अलंबुद्धि हो जाना पर वैराग्य है। इसके पश्चात् ही मोक्ष अवश्यम्भावी है, इसीसे इसे पर माना गया है।

[इस प्रकार] अभ्यास और वैराग्यकी व्याख्या हुई। इनमें

---

1 वैराग्यमध्ये—पा. २। ३ पु.।

विषयवृत्तिः कुण्ठीक्रियते, ध्येयगोचराभ्यासेन यद्ध्येयाकार-वृत्तिप्रवाहो बलवान्दृढः क्रियत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ।

इदानीमभ्यासस्यान्तरङ्गं साधनं परिकर्मादिकमुच्यते । परिकर्मशब्देन च स्थितिहेतुश्चित्तसंस्कार उच्यते, 'परिकर्माङ्ग-संस्कारः' इति 'परिकर्म प्रसाधनम्' इति चानुशासनात् ।

तत्र चित्तप्रसाद एकं परिकर्म । प्रसादश्च विषयकालुष्य-राहित्यम् । प्रसादे च हेतवः—सुखितेषु मैत्री, दुःखितेषु करुणा, पुण्यशीलेषु हर्षः, पापशीलेषूपेक्षा । इत्येवमादयो रागद्वेषनिवर्तनोपायाः । तदुक्तं गीतायाम्—

वैराग्यके द्वारा विषयवृत्ति कुण्ठित होती है और ध्येयविषयक अभ्याससे जो वृत्तिका ध्येयाकार प्रवाह है वह बलवान् और सुदृढ़ हो जाता है; अतः चित्तवृत्तियोंका निरोध इन दोनों ही के अधीन है ।

अभ्यासके अन्तरङ्ग साधन

अब अभ्यास के अन्तरंग साधन परिकर्मादिका वर्णन किया जाता है । 'परिकर्म' शब्दसे स्थितिका हेतुभूत चित्तसंस्कार कहा जाता है क्योंकि 'परिकर्म अङ्गसंस्कारको कहते हैं' तथा 'परिकर्मका अर्थ प्रसा-धन (सजावट) है' ऐसा कोशकारोंका आदेश है ।

सो, चित्तप्रसाद एक परिकर्म है । प्रसादका अर्थ है विषयकी मलिनतासे शून्य होना । प्रसादके हेतु हैं—सुखियोंके प्रति मित्रताका भाव, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यवानोंके प्रति हर्ष और पापियोंके प्रति उपेक्षा । ये तथा और भी ऐसे ही राग-द्वेषकी निवृत्ति करनेवाले उपाय [प्रसादके साधन हैं] । गीताजी में कहा है—'संयतात्मा पुरुष

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु[1] विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥"

(गी. २. ६४, ६५.)

इति । प्राणायामश्च चित्तप्रसादस्य द्वितीय उपाय इति ।

परिकर्मान्तरं[2] च विषयवती प्रवृत्तिः । विषया गन्धादयस्तन्मात्ररूपाः । अल्पेनाभ्यासयोगेन तत्साक्षात्कारो विषयवती प्रवृत्तिरुच्यते । तत्र नासाग्रे चित्तधारणयाऽल्पेनैव कालेन जायते या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः । एवं जिह्वाग्रे रससंवित् । तालुनि रूपसंवित् । जिह्वाया मध्ये स्पर्शसंवित् । जिह्वामूले शब्दसंवित् । एतत्सर्वं शास्त्रप्रामाण्यादवधारणीयम् । एतासां च प्रवृत्तीनां विवेकपर्यन्तयोगभूमिषु श्रद्धातिशयद्वारा

अपने अधीन एवं राग-द्वेषशून्य इन्द्रियोंसे विषयोंमें वर्तता हुआ चित्त-प्रसाद प्राप्त कर लेता है। चित्तका प्रसाद होनेपर उसके सब दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है। तथा उस प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि तत्काल ही स्थिर हो जाती है।' चित्त प्रसादका दूसरा उपाय है प्राणायाम।

एक अन्य परिकर्म है विषयवती प्रवृत्ति। विषय है तन्मात्ररूप गन्धादि। थोड़ेसे योगाभ्यासके द्वारा उनका साक्षात्कार हो जाना विषयवती प्रवृत्ति कही जाती है। नासाग्रमें चित्तकी धारणा करनेसे जो थोड़े ही समयमें दिव्य गन्धका ज्ञान होता है उसे गन्धप्रवृत्ति कहते हैं। इसी प्रकार जिह्वाग्रमें रससंवित्, तालुमें रूपसंवित्, जिह्वाके मध्यभागमें स्पर्शसंवित् और जिह्वाके मूलमें धारणा करनेसे शब्दसंवित् होती है। यह सब शास्त्रप्रामाण्यसे निश्चय कर लेना चाहिये। ये प्रवृत्तियाँ विवेकज्ञानकी प्राप्तिपर्यन्त योगकी सभी भूमिकाओंमें श्रद्धाकी वृद्धिके द्वारा

---

१ विमुक्तैस्तु—पा. २ पु. । २ परिकर्मोत्तरं—पा. २ पु. ।

चित्तस्थैर्यहेतुत्वम् । स्थैर्यसंस्कारद्वारा चैकस्य[1] हि शास्त्रीयार्थस्य साक्षात्कारे सति सर्वत्रैव शास्त्रार्थे श्रद्धावृद्ध्या स्थैर्यसंस्कारेण च चित्तस्थैर्यं युक्तमिति ।

तृतीयं परिकर्म विशोका ज्योतिष्मती । विगतः शोको यस्यामिति विशोका । यतश्च विशोका, अतो ज्योतिष्मतीनाम्नी प्रवृत्तिश्चित्तस्थैर्यहेतुर्भवति । ज्योतिष्मती च द्विविधा प्रवृत्तिः—बुद्धिसाक्षात्कारो विविक्तपुरुषसाक्षात्कारश्च । तयोश्च प्रकाशबाहुल्यात्तद्विषयकप्रवृत्त्योर्ज्योतिष्मतीत्वम् । नन्वात्मसाक्षात्कारानन्तरं चित्तस्थैर्यस्य किं प्रयोजनम्, अविद्यानिवृत्त्या कृतकृत्यत्वादिति चेन्न । जातेऽप्यात्मसाक्षात्कारेऽखिलसंस्कारदाहकासं-

चित्तकी स्थिरतामें कारण होती हैं। स्थिरताके संस्कारोंद्वारा जब किसी एक शास्त्रीय पदार्थका साक्षात्कार हो जाता है तो श्रद्धा बढ़ जानेसे स्थिरताके संस्कारोंद्वारा चित्तका सभी आलम्बनोंमें स्थिर हो जाना उचित ही है।

तीसरा परिकर्म है विशोका ज्योतिष्मती। जिसमेंसे शोक विगत हो गया हो उसे विशोका कहते हैं। क्योंकि विशोका है, इसलिये ज्योतिष्मती नामकी प्रवृत्ति चित्तकी स्थिरताका हेतु होती है। यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है—बुद्धिका साक्षात्कार और [प्रकृति आदिसे पृथक्] पुरुषका साक्षात्कार। ये दोनों साक्षात्कार प्रकाशबहुल हैं, इसलिये उनसे सम्बद्ध प्रवृत्तियाँ ज्योतिष्मती कही जाती हैं। यदि कहो कि आत्मसाक्षात्कारके पश्चात् चित्तकी स्थिरताका क्या प्रयोजन रहता है, क्योंकि तब तो अविद्याकी निवृत्ति हो जानेसे वह कृतकृत्य ही हो जाता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी जिसे सम्पूर्ण संस्कारोंको भस्म कर

---

१ चैकैकस्य—पा. २ । ३ पु. ।

प्रज्ञातार्थिनः परवैराग्यार्थं संप्रज्ञातपरम्पराया अपेक्षितत्वात्, जीवात्मसाक्षात्कारोत्तरमपि परमात्मसाक्षात्कारार्थिनः परमात्मयोगापेक्षणाच्चेति ।

चतुर्थं तु परिकर्म विरक्तचित्तचिन्तनम् । यदा हि विरक्ते नारदादिचित्ते चित्तं समाधीयते तदा तद्वदेव ध्यातृचित्तमपि विरक्तं स्थिरस्वभावं भवति; यथा कामुकचिन्तया चित्तं कामुकं भवतीति ।

पञ्चमं परिकर्म स्वप्ननिद्रान्यतरज्ञानचिन्तनम् । यदा हि जाग्रज्ज्ञाने स्वप्नज्ञानदृष्टिः क्रियते स्वरूपावरकत्वसाम्याद्भङ्गुरविषयकत्वसाम्याच्च, तदा तत्र विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति । एतदर्थमेव श्रुतिस्मृत्योः स्वप्नार्थेन प्रपञ्चो रूप्यते 'दीर्घस्वप्न-

देनेवाले असंप्रज्ञात योगकी अपेक्षा है उसे पर वैराग्यके लिये सम्प्रज्ञात योगकी परम्पराकी भी आवश्यकता है ही। इसके सिवा जीवात्माका साक्षात्कार हो जानेके पीछे भी जिसे परमात्माके साक्षात्कार की अपेक्षा है उसे भी परमात्मयोगकी आवश्यकता है ही।

चौथा परिकर्म है विरक्तपुरुषोंके चित्तका चिन्तन। जब चित्त नारदादि विरक्त पुरुषोंके चित्तमें समाहित होता है तो ध्यान करनेवालोंका चित्त भी उसीके समान विरक्त और स्थिरस्वभाव हो जाता है, जिस प्रकार कामासक्त पुरुषका चिन्तन करनेसे चित्त कामुक हो जाता है।

पाँचवाँ परिकर्म है स्वप्न और निद्राके ज्ञानोंमेंसे किसी एकका चिन्तन। जिस समय साधक जाग्रत्-ज्ञानमें स्वप्नज्ञानकी भावना करता है, क्योंकि ये दोनों ही स्वरूपके आवरक और अस्थिरविषयक होनेमें समान हैं, उस समय चित्त विरक्त होकर स्थिर हो जाता है। इसीसे श्रुति और स्मृतिने दृश्य प्रपञ्चको 'इस संसारको एक लंबा स्वप्न समझो' इत्यादि वाक्यों द्वारा स्वप्नपदार्थरूपसे वर्णन किया है। इसी

स्मिमं विद्धि' इत्यादिभिः। तथा यदा जाग्रत्पुरुषेषु सुषुप्ति-दृष्टिः क्रियते स्वरूपावरणसाम्यात्, निद्रादोषेणान्तराऽन्तरा स्वप्नदर्शनवदन्तराऽन्तरैव जगद्दर्शनाच्च, तदा तेषां व्यवहारेषु विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति। तथा च स्मर्यते—

'यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वमात्मनि पश्यति।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उच्यते॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं स्मरेत्॥"

इत्यादिकमिति।

षष्ठं परिकर्म यथाभिमतध्यानं स्वाभिलषितहरिहरमूर्त्यादौ ध्यानम्। चित्तस्य रूपादिरागात्तत्र स्थितस्यान्यत्रापि विवेक-पर्यन्ते स्थितियोग्यता भवतीति।

प्रकार जब जाग्रत्-पुरुषोंमें सोये हुए पुरुषकी दृष्टि की जाती है, क्योंकि दोनों ही के स्वरूपका समानरूपसे आवरण है तथा जिस प्रकार निद्रा दोषसे बीच-बीचमें स्वप्न देखा जाता है उसी प्रकार जाग्रत्का अनुभव भी बीच-बीच ही में होता है, तब उनके व्यवहारोंमें विरक्त होकर चित्त स्थिर हो जाता है। ऐसा ही स्मृति भी कहती है—'जिस समय पुरुष सो जाता है उस समय यह सम्पूर्ण विश्वको अपने ही में देखता है, किन्तु जब स्वप्नावस्था आती है तो यह अपनेको एक देशमें ही स्थित मानता है। इसी प्रकार जीवात्माके जागरित आदि तीनों स्थानोंको मायामात्र जानकर उनके साक्षी परमात्माका स्मरण करे।' इत्यादि।

छठा परिकर्म है यथाभिमतध्यान अर्थात् अपने अभीष्ट विष्णु एवं शिव की मूर्ति आदिका ध्यान करना। रूपादिके रागवश जब चित्त उनमें ठहर जाता है तो अन्य स्थानोंमें भी विवेकख्यातिपर्यन्त स्थिर होने की योग्यता हो जाती है।

एतानि परिकर्माण्युक्तानि। एतेषु चिन्तारूपाणां परिकर्मणामनुष्ठाने इच्छाविकल्प इति।

तदेवं योगद्वयसाधारणं साधनमभ्यासवैराग्याख्यमुक्तम्। अभ्यासस्य च साधनं परिकर्मोक्तम्।

तत्रायमवान्तरविभागो ग्रहीतृग्रहणग्राह्यरूपषड्विंशतितत्त्वाभ्यासो वशीकाराख्यमपरं वैराग्यं च संप्रज्ञातयोगसाधनम्। तत्र च वैराग्यं साक्षादेव वृत्तिनिरोधकारणम्। अभ्यासस्तु समाधिरूपाङ्गद्वारा। असंप्रज्ञाते तु परवैराग्यमेव साक्षात्कारणम्। वैराग्यरूपस्यैव ज्ञानस्याभ्यासस्तु वैराग्यनिष्पत्तिद्वारा कारणम्। परवैराग्यं च निष्पन्नतया विवेकख्यातावपि दुःखा-

यह परिकर्मोंका वर्णन हुआ। इनमेंसे चिन्तनरूप परिकर्मोंके अनुष्ठानमें इच्छा ही *विकल्प है।

इस प्रकार दोनों प्रकारके योगोंके सामान्य साधन अभ्यास और वैराग्य का निरूपण हुआ तथा अभ्यास के साधन परिकर्मोंका भी वर्णन हो चुका।

इसमें एक अवान्तर विभाग और भी है—(१) गृहीता ग्रहण और ग्राह्यरूप छब्बीस तत्त्वोंका अभ्यास तथा (२) वशीकारसंज्ञा अपर वैराग्य। ये दोनों संप्रज्ञात योगके साधन हैं। इनमें वैराग्य तो सीधा ही वृत्तियों के निरोध का कारण है, किन्तु अभ्यास समाधिरूप योगके अंगद्वारा है। किन्तु असंप्रज्ञात योगमें तो पर वैराग्य ही साक्षात् कारण है। वहाँ वैराग्यरूप ज्ञानका अभ्यास ही वैराग्यकी पूर्णताके द्वारा उसका कारण बनता है। पर वैराग्य तो पूर्ण हो जाने पर दुःखरूपा विवेकख्यातिमें भी अलंबुद्धिरूप होता है—यह बात पहले कही जा चुकी है।

---

* अर्थात् अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार इनमेंसे किसीका अनुष्ठान किया जा सकता है।

त्मिकायामलंबुद्धिरित्युक्तम्। सालम्बनस्त्वभ्यासो विवेकसाक्षात्कारद्वारैवासंप्रज्ञातकारणं न साक्षादिति दिक्।

इत्युत्तमाधिकारिणो योगसाधननिरूपणम्।

अथ मध्यमाधिकारिणो युञ्जानस्य वानप्रस्थादेः प्रकृष्टक्रियायोगरूपं योगसाधनं निरूप्यते। तस्य च क्रियायोगो मुख्यतः साधनम्। अभ्यासवैराग्यादिकं तु यथाशक्तितोऽनुष्ठेयम्। प्रकृष्टक्रियायोगश्च तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि। तत्र तपः-शास्त्रोक्तव्रतेन शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनम्[1]। स्वाध्यायो मोक्ष-शास्त्राणामध्ययनं प्रणवादिजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं त्वत्र परमगुरौ सर्वकर्मार्पणं तत्फलसंन्यासो वा। भाष्यकारैस्तथा व्याख्यातत्वादिति। अर्पणशब्दार्थश्च स्मृतिषूक्तः। यथा—

साथ ही ध्यान रहे कि सालम्बन अभ्यास विवेकख्यातिके द्वारा ही असंप्रज्ञात योगका कारण हो सकता है, साक्षात् रूपसे नहीं।

इस प्रकार उत्तम अधिकारीके योगसाधनोंका निरूपण हुआ।

मध्यम अधिकारीका योगसाधन

अब, मध्यम अधिकारी युञ्जान वानप्रस्थ आदिके लिये उत्कृष्ट क्रियायोगरूप योगसाधनका निरूपण किया जाता है। उसके लिये तो मुख्यतः क्रियायोग ही साधन है। अभ्यास और वैराग्यादिका तो उसे अपनी शक्तिके अनुसार ही अनुष्ठान करना चाहिये। वह उत्कृष्ट क्रिया-योग है—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। उनमें तप है शास्त्रोक्त व्रतोंके द्वारा शीतोष्णादिको सहन करना, स्वाध्याय है मोक्षशास्त्रोंका अध्ययन और प्रणव आदिका जप तथा ईश्वरप्रणिधान है परम गुरु परमात्माको सम्पूर्ण कर्म समर्पित कर देना अथवा कर्मफलका संन्यास, क्योंकि इसी प्रकार भाष्यकार भगवान् व्यासने इनकी व्याख्या की है। 'अर्पण' शब्दका अर्थ स्मृतियोंमें भी किया गया है। यथा—

---

१. यज्ञदानादीनां तु तत्रैवान्तर्भावः इत्यधिकम्—२ पु.।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि यत्किंचित्कुरुते नरः ।
तत्सर्वं भगवानेव कुरुते योगमायया ॥
नाहं कर्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव[1] कुरुते तथा ।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

इत्यादिना ।

कर्मफलार्पणं च कर्मफलानां परमेश्वरो भोक्तेति चिन्तनम् । 'ऋतं पिबन्तौ'(क. ३।१) इत्यादिश्रुतिभिः परमेश्वरस्यापि भोगसिद्धेः, 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मु. ३।१।१) इति श्रुत्या चाभिमानपूर्वकस्य मुख्यभोगस्यैव परमेश्वरे प्रतिषेधात् । यदेव जीवान्कर्मफलानि भोजयन्परमेश्वरः प्रीणाति, तदेव परमेश्वरस्य कर्मफलभोगः । यथाऽर्थिभ्यो धनानि प्रयच्छन्दाता तद्धनभोक्ता तद्वत् । न तु साक्षादेव कर्मफलं स्वर्गनरकादिकमीश्वरो भुङ्क्ते, श्रुतिस्मृति-

'मनुष्य जानकर अथवा बिना जाने जो कुछ भी करता है वह योगमायासे स्वयं श्रीभगवान् ही करते हैं । अतः मैं करनेवाला नहीं हूँ । भगवान् ही यह सब कर रहे हैं—इसीको तत्त्वदर्शी ऋषियोंने ब्रह्मार्पण कहा है ।'

कर्मफलार्पणका अर्थ है—यह चिन्तन करना कि इन सब कर्मफलोंके भोक्ता परमेश्वर ही हैं । 'कर्मफलका भोग करते हुए' इत्यादि श्रुतियोंसे परमेश्वरका भी भोग सिद्ध होता है । 'उनमें अन्य (परमेश्वर) भोग न करके केवल देखता है' इत्यादि श्रुतिने तो उसके अभिमानपूर्वक मुख्य भोगका ही निषेध किया है । भगवान् जो जीवोंको कर्मफल भोग कराकर प्रसन्न होते हैं यही उनका कर्मफलभोग है । जिस प्रकार दाता पुरुष अर्थियोंको धन देकर ही उस धनका भोक्ता हो जाता है उसी प्रकार [यहाँ समझो] । ईश्वर कर्मोंके फल स्वर्ग-नरकादिका साक्षात् भोग नहीं करता । ऐसा माननेपर तो श्रुतिस्मृतियोंसे विरोध

१ हस्तैव–पा. २ पु. ।

विरोधात् । यद्यपीश्वरस्य नित्यानन्दभोगो नित्य एव, तथाऽपि जीवानां कर्मफलप्रदानेनाभिव्यक्ततया ह्यैश्वर्यानुगतानन्दभोगस्योत्पत्तिरौपचारिकी सिसृक्षोत्पत्तिवदिति ।

क्रियायां च योगशब्दो योगसाधनत्वाद्भक्तिज्ञानयोरिव गौणः ।

तस्य च क्रियायोगस्य योगवत्क्लेशतनूकरणमपि फलं भवति, 'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च' (यो. २. २.) इति सूत्रात्। तत्र च समाधिशब्दोऽङ्गाङ्गिनोरभेदेन योगद्वयवाची। तत्र योगद्वयं प्रागेव व्याख्यातम् ।

क्लेशतनूकरणं तु सफलं व्याख्यायते। तत्र दुःखाख्यक्लेशनिदानत्वात्क्लेशाः पञ्च—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा इति ।

होगा। यद्यपि भगवानका नित्यानन्दरूप भोग तो नित्य ही है, तथापि जीवोंको फलप्रदान करनेसे इसकी अभिव्यक्ति होती है; अतः सृष्टि करनेकी इच्छाकी उत्पत्तिके समान उनके ऐश्वर्यमें अनुगत आनन्दभोग की उत्पत्ति भी औपचारिकी (गौण) ही है।

'भक्ति' और 'ज्ञान' इन दोनों शब्दोंके साथ जैसे 'योग' शब्दका गौण प्रयोग होता है उसी प्रकार योग की साधन होनेके कारण 'क्रिया' शब्दके साथ 'योग' शब्दका संयोग गौण है।

उस क्रियायोगका योगकी तरह क्लेशोंको तनु (सूक्ष्म) कर देना भी एक फल है; जैसा कि 'यह [क्रिया योग] समाधि प्राप्त कराने और क्लेशोंको तनु करनेके लिये है' इस सूत्रसे सिद्ध होता है। यहाँ 'समाधि' शब्द अंग और अंगीके अभेदरूप दोनों ही योगोंका वाचक है। इन दोनों योगोंकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है।

अब फलके सहित क्लेशोंके तनूकरणकी व्याख्या की जाती है। दुःखसंज्ञक क्लेशरूप परिणामवाले होनेसे ये क्लेश पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अनित्य, अपवित्र, दुःख और

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । आत्मानात्मनोर्धर्मतः स्वतश्चात्यन्तमभेदभ्रमोऽस्मिता । अविद्या तु भेदाभेदं सहत इति विशेषः । रागद्वेषौ च प्रसिद्धावेव । अभिनिवेशस्तु मरणादिभयम् । एतेषामुत्तरोत्तरेषु पूर्वं पूर्वं कारणम् । अतोऽविद्या सर्वक्लेशानां मूलत्वात्क्षेत्रमुच्यते । अविद्यासत्त्व एवैते भवन्ति ; अविद्यानाशाच्चैतेषां नाश इति ।

एते च क्लेशा व्याध्यादिवच्चित्तविक्षेपकत्वाद्योगस्यापि विरोधिनः । एतेषां तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धाक्षमता । तच्च क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टद्वारा फलं भवति । क्रियायोगेण हि चित्तशुद्धिः क्रियते । ततश्चाधर्माख्यकारणतानवादविद्यादेरपि तनुता भवति । तथाऽभिमानरागद्वेषादिप्राबल्ये क्रियायोगो न

अनात्म पदार्थोंमें नित्य, पवित्र, सुख और आत्मबुद्धि होना 'अविद्या' है। आत्मा और अनात्मामें धर्मतः तथा स्वरूपतः अत्यन्त अभेदका भ्रम होना 'अस्मिता' है। अविद्या तो भेदाभेदको भी सहन कर लेती है—इतनी [अस्मिता की अपेक्षा] उसमें विशेषता है। राग द्वेष तो प्रसिद्ध ही हैं। अभिनिवेश मरणादिके भयको कहते हैं। इनमें पीछे पीछेके क्लेशोंमें उनसे पहला-पहला क्लेश कारण है । अतः सब क्लेशोंका मूल होनेके कारण अविद्या इनका क्षेत्र कही जाती है। अविद्याके होनेपर ही ये सब होते हैं और अविद्याके नाशसे ही इनका नाश हो जाता है।

व्याधि आदिके समान चित्तमें विक्षेप करनेवाले होनेसे ये क्लेश भी योगके विरोधी हैं। विवेकख्यातिका प्रतिबन्ध करनेकी योग्यता न रहना ही इनकी तनुता है। दृष्ट और अदृष्ट क्रमके द्वारा यह क्रियायोगका ही फल होता है। क्रियायोगके द्वारा ही चित्तकी शुद्धि होती है और फिर अधर्मसंज्ञक कारणके तनु हो जानेसे अविद्यादिकी भी तनुता हो जाती है। तथा अभिमान और राग-द्वेषादिकी प्रबलता होनेपर क्रिया-

संभवति । संभवे वाऽङ्गविकलो भवति । अतः क्रियायोगः स्वनिष्पत्तये क्लेशतानवमपि संपादयतीति । एवं योगोऽपि क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टोभयद्वारा फलं बोध्यम् । सत्त्वशुद्धिरदृष्टं द्वारम्, दृष्टं तु द्वारं चित्तस्य कर्मद्वारा नियमनादिकमिति ।

इदानीं क्लेशतानवस्य मोक्षपर्यन्तं फलं सूत्रगणोक्तं संकलय्य कथ्यते । क्रियायोगेण क्लेशतानवे सति, अन्तराऽन्तरा क्लेशैरप्रतिबद्धो विवेकख्यातिप्रवाहः साक्षात्कारपर्यवसायी भवति । ततश्चाविद्यादिक्लेशाः प्रसंख्यानाख्येन विवेकसाक्षात्कारेणाग्निना दग्धबीजकल्पाः प्ररोहसमर्था न भवन्ति । इयं जीवन्मुक्तावस्था । ततश्च प्रारब्धसमाप्तौ चित्ते प्रलीयमाने ते दग्धबीजकल्पा अप्यनागतावस्थाः सूक्ष्मक्लेशा अत्यन्तं प्रलीयन्ते । तन्निवृत्तौ

योग होना भी संभव नहीं है । और यदि होता भी है तो अंगहीन होता है । अतः अपनी निष्पत्ति के लिये क्रियायोग क्लेशकी तनुता भी कर लेता है । इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट दोनों क्रमोंसे योग भी क्रियायोग-का फल है—ऐसा समझना चाहिये । चित्तकी शुद्धि उसका अदृष्ट द्वार है और कर्मद्वारा चित्तका नियमन आदि उसका दृष्ट द्वार है ।

अब कई सूत्रोंद्वारा बतलाये गये क्लेशोंकी तनुताके मोक्षपर्यन्त फलका संकलन करके वर्णन किया जाता है । क्रियायोगके द्वारा जब क्लेशोंकी तनुता हो जाती है तो बीच-बीचमें क्लेशोंसे प्रतिबद्ध न होने-वाला विवेकख्यातिका प्रवाह साक्षात्कारमें पूर्ण होनेवाला हो जाता है । उस अवस्थामें प्रसंख्यानसंज्ञक विवेकसाक्षात्काररूप अग्निसे दग्धबीजसे होकर अविद्यादि क्लेश अंकुरित होनेमें समर्थ नहीं होते । यही जीवन्मुक्त अवस्था है । फिर प्रारब्धकी समाप्ति होनेपर चित्तका सर्वथा लय हो जानेसे वे दग्धबीज सदृश सूक्ष्म क्लेश भी, जो अबतक भविष्यके गर्भमें छिपे हुये थे, अत्यन्त लीन हो जाते हैं । उनके निवृत्त

पुनर्जन्मकारणाभावात्पुरुषः पुनरिदं दुःखं न भुङ्क्त इति परमं मुक्तिरिति ।

ननु अनागतावस्थानामपि क्लेशानां ज्ञाननाश्यत्वमेव युक्तम्, किमिति कार्याक्षमतारूपदाहः कल्प्यत इति चेत् ।

उच्यते । कार्याणामनागतावस्थैव कारणस्य शक्तिरुच्यते । तां च विहाय कारणं न तिष्ठति. अग्न्यादौ दाहादिशक्तेर्यावद्द्रव्यभावित्वात् । अतः क्लेशकर्मसंस्कारादीनामनागतावस्थानां बीजशक्तिदाह एव[1] ज्ञानादिभिः क्रियते, न त्वतीतावस्थानाम् । तासां तु[2] नाशश्चित्तनाशादेव भवति, धर्मिनाशस्य धर्मनाशकत्वादिति ।

हो जाने पर पुनर्जन्मका कोई कारण न रहनेसे पुरुष पुनः इस दुःखको नहीं भोगता—यही उसकी परम मुक्ति है ।

प्रश्न—जो क्लेश भविष्यके गर्भमें छिपे हुए हैं उनका भी ज्ञान द्वारा नष्ट होना ही उचित है, उनके कार्यकी अयोग्यतारूप दाहकी क्यों कल्पना की जाती है ?

इसका उत्तर दिया जाता है—कार्यों की अनागत (भावी) अवस्था ही कारण की शक्ति कही जाती है । उसे त्यागकर कारण नहीं रह सकता, क्योंकि अग्नि आदि में जो दाहादि शक्ति है वह अग्नि आदि द्रव्यकी स्थितिपर्यन्त रहती है । अतः ज्ञानादिके द्वारा अनागत अवस्थामें स्थित क्लेश, कर्म और संस्कारादि की बीजशक्तिका ही दाह किया जाता है, अतीतावस्थामें स्थित हुओंकी शक्तिका नहीं । उनका नाश तो चित्तका नाश होने पर ही होता है, क्योंकि धर्मीका नाश ही धर्मका नाश करनेवाला होता है ।

---

१ दाहकत्वमेव—पा. २ । ३ पु ।

२ न त्वतीतावस्था सा तु—पा. २ । ३ पु ।

अथ कथमविद्यादिक्लेशाद्बन्धः कथं वा तन्निवृत्त्या मोक्ष इति तयोः प्रकारः कथ्यते। अविद्यादिक्लेशेभ्य एव धर्माधर्मौ जायेते,

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥"

(गी. १८. १७.)

इत्यादिस्मृतेः। धर्माधर्माभ्यां च जन्मायुर्भोगरूपा विपाका जायन्ते। तेभ्यश्च सुखदुःखे। ततश्च पुरुषस्य तद्भोगरूपो बन्ध इति। विपाकमध्ये च भोगः शब्दाद्याकारा वृत्तिरिति भेदः।

ननु क्लेशानां दुःखाख्यहेयहेतुत्ववत्स्वर्गादिसुखहेतुत्वमपि धर्मादिद्वाराऽस्ति; तत्कथं क्लेशा उन्मूलनीया इति।

अब, अविद्यादि क्लेशोंके द्वारा किस प्रकार बन्धन होता है और किस प्रकार उनके नाशसे मोक्ष प्राप्त होता है—इस प्रकार उन (बन्ध और मोक्ष) का क्रम बताया जाता है। अविद्यादि क्लेशोंसे ही धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति होती है, जैसा कि 'जिसे अहंकारका भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती वह इन सम्पूर्ण लोकोंक मारकर भी नहीं मारता और न बन्धन ही में पड़ता है' इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है। धर्म और अधर्मसे ही जन्म, आयु और भोगरूप कर्मोंके फल होते हैं और उन्हींसे सुख-दुःख भी हुआ करते हैं। तथा उन्हींके द्वारा पुरुषका सुख-दुःख भोग रूप बन्धन होता है। कर्मफलमें जो भोग रहता है वह तो केवल शब्दादि विषयाकार वृत्ति ही है—इतना ही [सुख-दुःख-भोगरूप बन्धन से] उसका भेद है।

प्रश्न—क्लेश जिस प्रकार दुःखरूप हेयके हेतु हैं वैसे ही धर्मादिके द्वारा स्वर्गादि सुखके भी तो हेतु हैं, ऐसी अवस्थामें वे नष्ट कर डालने योग्य कैसे हो सकते हैं?

उच्यते। स्वर्गादिसुखमपि दुःखप्रचुरत्वाद् दुःखानुबन्धित्वाच्च दुःखमेव विवेकिना मन्तव्यम्। तथा च सांख्यसूत्राण्यपि—'यथा दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः,' 'कुत्रापि कोऽपि सुखीति,' 'तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः' (सां. ६. ६, ७, ८.) इति। सोऽयमविद्यातो बन्धप्रकारः कौर्मेऽप्युक्तः—

"रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः।
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः।
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः॥" इति।

क्लेशेभ्यो बन्धप्रकार उक्तः। क्लेशनिवृत्तितो मोक्षप्रकार उच्यते आत्मानात्मविवेकसाक्षात्कारादविद्यानिवृत्त्या तन्मूलकानां क्लेशान्तराणामपि निवृत्तिः। ततश्च कारणाभावाद्धर्मानुत्पत्तिः।

उत्तर—बताते हैं, स्वर्गादि सुख भी दुःखबहुल हैं और उसके परिणाममें भी दुःख ही रहता है, अतः विवेकियोंको तो उसे भी दुःखरूप ही मानना चाहिये। ऐसे ही ये सांख्यसूत्र भी हैं—'जीवको दुःखसे जैसा क्लेश होता है सुखसे वैसी अभिलाषा जाग्रत् नहीं होती', 'कहीं-कहीं कोई-कोई ही सुखी होता है,' 'वह सुख भी दुःखसे मिला हुआ ही होता है, अतः विवेकीलोग उसे दुःखपक्षमें ही पटक देते हैं।' अविद्याके द्वारा यह बन्धनका प्रकार कूर्मपुराणमें भी कहा है—

'राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण दोष भ्रान्तिके ही कारण हैं और इसीका कार्य पाप-पुण्यरूप दोष हैं—ऐसी श्रुति कहती है। तथा पुण्य-पापके अधीन ही सब जीवोंके सब प्रकारके शरीर उत्पन्न होते हैं।'

इस प्रकार क्लेशोंद्वारा बन्धन के क्रमका निरूपण हुआ। अब क्लेशोंकी निवृत्तिद्वारा मोक्षका क्रम बताया जाता है। आत्मा और अनात्माके विवेक का साक्षात्कार होने से जब अविद्या निवृत्त हो जाती है तो अविद्यामूलक अन्य क्लेश भी निवृत्त हो जाते हैं। फिर तो कोई कारण न रहने से धर्म-अधर्मकी भी उत्पत्ति नहीं होती। तथा क्लेशरूप

अनारब्धफलकानां चोत्पन्नकर्मणां फलानुत्पादः क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदात् । आरब्धफलकर्मणां च भोगेनैव नाशः । ततः प्रारब्धसमाप्त्या देहपाते कारणाभावान्न पुनर्जन्म । तदेव च दुःखनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति ।

तदेवं चिकित्साशास्त्रवदेव चतुर्व्यूहप्रतिपादकं सांख्ययोगादि मोक्षशास्त्रम् । यथा हि रोगो रोगनिदानमारोग्यं भैषज्यमिति चत्वारो व्यूहाश्चिकित्साशास्त्रस्य प्रतिपाद्या भवन्ति, एवमत्रापि हेयं हेयहेतुर्हानं हानोपाय इति चत्वारो व्यूहाः प्रतिपाद्याः । तत्र हेयं दुःखम् । हेयहेतुरविद्या । हानं दुःखात्यन्तनिवृत्तिः । हानोपायो विवेकसाक्षात्कार इति । उपकरणानां ग्रहणाय सर्वत्र व्यूहपदमावश्यकम् ।

सहकारियों का उच्छेद हो जाने के कारण वे कर्मसंस्कार जिनका फल अभी प्रारम्भ नहीं हुआ, फलप्रद नहीं रहते और जिनका फल आरम्भ हो चुका है वे भोगसे ही नष्ट हो जाते हैं । फिर तो प्रारब्ध समाप्त हो जानेसे देहपात होनेपर पुनः जन्म नहीं होता, क्योंकि जन्मका कोई कारण शेष नहीं रहता । यही दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष है ।

इस प्रकार चिकित्सा शास्त्र के समान ही सांख्य एवं योगादि शास्त्र चतुर्व्यूहका प्रतिपादन करनेवाले हैं । जिस प्रकार रोग, रोगका कारण आरोग्य और औषध-ये चार व्यूह चिकित्साशास्त्र के प्रतिपाद्य हैं, उसी प्रकार यहाँ भी हेय, हेयका हेतु, हान और हानका उपाय—ये चार व्यूह प्रतिपाद्य हैं । इनमें हेय दुःख है, हेयका हेतु अविद्या है, हान दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति है और हान का उपाय विवेकसाक्षात्कार है । इन उपकरणों को एक साथ ग्रहण करने की दृष्टि से इन सब के साथ 'व्यूह' शब्द का प्रयोग अवश्यक है ।

ननु पुरुषस्य नित्यनिर्दुःखत्वात्कथं[1] दुःखहानिः पुरुषार्थं इति चेन्न। भोग्यत्वरूपस्वत्वसंबन्धेनैव दुःखहानस्य सांख्यादि-मते पुरुषार्थत्वात्। यद्यपि भोगः साक्षात्काररूपतया स्वरूपतो नित्य एव, तथाऽपि घटाकाशवद् दुःखभोगस्या-नित्यतया तन्निवृत्तिः पुरुषार्थः स्यादेव; दुःखभोगस्य दुःखप्रतिबिम्बावच्छिन्नचित्स्वरूपत्वादिति।

अत्राविद्याया हेयहेतुतायां द्वारतया द्रष्टृदृश्यसंयोगरूपं जन्म व्याख्याय सूत्रभाष्याभ्यामनेनैव प्रसङ्गेन द्रष्टृदृश्ययोः पुंप्रकृत्योः स्वरूपं प्रपञ्चितम्। मयाऽपि वार्त्तिके सांख्यभाष्ये च प्रपञ्चितम्। सांख्यसाराख्ये सांख्यप्रकरणे त्वस्माभिर्विस्तरतः

यदि कहो कि पुरुष तो नित्य निर्दुःख है, फिर दुःखहानि पुरुषका प्रयोजन कैसे हो सकती है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सांख्यादि दार्शनिकों के मतमें भोग्यत्वरूप स्वत्व के सम्बन्ध से ही [अर्थात् विषयों की भोग्यता के साथ पुरुषका सम्बन्ध है इस विचार को लेकर ही] दुःख की निवृत्ति पुरुष का प्रयोजन होती है। यद्यपि साक्षात्कार (उपलब्धि) रूपसे तो स्वरूपतः भोग नित्य ही है, तथापि [घटरूप उपाधि के कारण उत्पन्न होने वाले] घटाकाश के समान दुःखभोग अनित्य है, अतः उसकी निवृत्ति पुरुषार्थ (पुरुषका प्रयोजन) हो ही सकती है, क्योंकि दुःखभोग तो दुःखरूप प्रतिबिम्ब में अवच्छिन्न चेतन-रूप ही है।

यहाँ अविद्या को हेय की हेतुतामें द्वाररूप से वर्णन करते हुए सूत्र और भाष्य दोनों ही ने द्रष्टा और दृश्य के संयोगरूप जन्म की व्याख्या करके इसी प्रसंगमें द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रकृति के स्वरूप का निरूपण किया है। मैंने भी योगवार्तिक और सांख्यसूत्रों के भाष्य में ऐसी ही व्याख्या की है। सांख्यसारसंज्ञक सांख्यप्रकरण में हमने

1 निर्दुःखत्वात्—पा. २ पु.। नित्यादुःखत्वात्—पा. १ पु.।

प्रकृतिपुरुषौ विवेचितौ । अतो विस्तरभयान्नेह प्रकरणे प्रस्तूयेते ।

इति मध्यमाधिकारिणां योगसाधननिरूपणं तत्प्रसङ्गेन क्रियायोगस्य क्लेशतानवद्वारा मोक्षहेतुताया निरूपणं च ।

अथ मन्दाधिकारिणो योगमारुरुक्षोर्गृहस्थादेर्योगसाधनान्युच्यन्ते । तानि च यथोक्तस्य ज्ञानस्यापि साधनानीत्याशयेन सूत्रभाष्याभ्यां विवेकख्यातिसाधनविधयैव निर्दिष्टानि । तानि च यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति । एतान्यष्टौ योगाङ्गानि भवन्ति । मन्दाधिकारिभिर्धारणादिरूपोऽभ्यासो यमनियमादिरूपः समग्रक्रियायोगश्च यथाक्रममनुष्ठेय इत्याशयेन पिण्डीकृत्य सर्वमेव मन्दाधिकारिभ्य उपदिश्यते ।

प्रकृति-पुरुषका विस्तृत विवेचन किया है । इस लिये विस्तार के भयसे इस प्रकरण में हम उसकी चर्चा नहीं करते ।

इस प्रकार मध्यम अधिकारियों के भोगसाधनों का तथा उन्हीं के प्रसंगसे क्रियायोग और क्लेश के तानवद्वारा उनकी मोक्षहेतुताका निरूपण हुआ ।

मन्द अधिकारीका योगसाधन

अब योगपर आरूढ़ होनेकी इच्छावाले गृहस्थ आदि मन्द अधिकारियोंके योगसाधनों का वर्णन किया जाता है । वे उपर्युक्त ज्ञानके भी साधन हैं, इसी आशयसे सूत्र और भाष्यमें उनका विवेकख्यातिके साधनरूपसे ही निर्देश किया है । वे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि । ये ही योगके आठ अंग हैं । मन्द अधिकारियोंको धारणादिरूप अभ्यास और यम-नियमादिरूप सम्पूर्ण क्रियायोगका क्रमशः अनुष्ठान करना होता है, इसीसे सब मिलाकर इनका मन्द अधिकारियोंके लिये ही उपदेश किया गया है ।

तत्रादौ यमनियमाद्यनुष्ठानं केवलं कर्मयोग उच्यते। उत्तम-मध्यमयोश्च केवलज्ञानज्ञानसमुच्चितकर्मणी[1] प्रागेवोक्ते। तत्र च ज्ञानकर्मणोः प्रत्येकसमुच्चयानुष्ठाने प्रमाणं विष्णुपुराणम्। यथा—

"सनकसनन्दनादयो[2] ब्रह्मभावनया युताः।
कर्मभावनयाऽन्ये च देवाद्याः स्थावराश्चराः।
हिरण्यगर्भादिषु च कर्मब्रह्मोभयात्मिका॥" इति।

तत्र यमनियमौ सूत्रभाष्याभ्यां प्रदर्शितौ, ईश्वरगीता-वाक्यैरेवात्र प्रदर्श्येते। यथा—

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदा नृणाम्॥

इनमें भी पहले-पहले जो केवल यम-नियमादिका अनुष्ठान है वह तो कर्मयोग कहा जाता है। उत्तम और मध्यम अधिकारियोंके लिये क्रमशः केवल ज्ञान और ज्ञानसमुच्चित कार्म तो पहले ही कहे जा चुके हैं। इन ज्ञान और कर्मके अलग-अलग एवं एक साथ अनुष्ठानके विषयमें विष्णुपुराण प्रमाण है, जैसे—

'सनक-सनन्दनादि तो केवल ब्रह्मभावसे सम्पन्न हैं, दूसरे जंगम, स्थावर एवं देवता आदि कर्मकी भावनासे पूर्ण हैं और हिरण्यगर्भादिमें तो कर्म एवं ब्रह्म दोनों ही प्रकारकी भावनाएँ रहती हैं।'

अब योगसूत्र और व्यासभाष्यद्वारा प्रदर्शित यम-नियमों का यहाँ ईश्वरगीताके वाक्योंसे ही दिग्दर्शन कराया जाता है। यथा—

यम—अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये संक्षेपसे मनुष्योंकी चित्तशुद्धि करनेवाले यम कहे गये हैं।

---

१ ज्ञानसमुच्चितज्ञानकर्मणी—पा. १ पु.। केवलज्ञानं ज्ञानसमुच्चितकर्मणी—पा. १ पु.।

२ सनन्दनादयो ब्रह्मन्—पा. २ पु.।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिंसा परमर्षिभिः ॥
अहिंसायाः परो धर्मो नास्त्यहिंसापरं सुखम् ।
विधिना या भवेद्धिंसा सा त्वहिंसैव कीर्तिता ॥
सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यथार्थकथनाचारः सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः ॥
परद्रव्यापहरणं चौर्याद्वाऽथ बलेन वा ।
स्तेयं तस्यानाचरणादस्तेयं धर्मसाधनम् ॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥
द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि यथेच्छया ।
अपरिग्रह इत्युक्तस्तं प्रयत्नेन पालयेत् ॥"

तपःस्वाध्यायसंतोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।
समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः ॥

मन, वचन और कर्म-द्वारा सर्वदा सभी जनोंको क्लेश न पहुँचाना—इसे महर्षियोंने 'अहिंसा' कहा है । अहिंसासे बड़ा और कोई धर्म नहीं है और अहिंसा ही परमसुख है । शास्त्रविधिसे जो हिंसा की जाती है वह तो अहिंसा ही कही गयी है । सत्यसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है और सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है । विप्रवृन्दने यथार्थ कथन और यथार्थ आचरणको ही 'सत्य' कहा है । दूसरेके धनको चोरीसे अथवा बलात्कारसे ले लेना ही स्तेय है, और वैसा न करना ही 'अस्तेय' रूप धर्मका साधन है । मन, वचन और कर्मद्वारा सर्वत्र सर्वदा सभी प्राणियोंमें मैथुनका त्याग ही 'ब्रह्मचर्य' कहा जाता है । तथा आपत्कालमें भी इच्छानुसार द्रव्य ग्रहण न करना 'अपरिग्रह' है । उसका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये' ।

नियम—तप, स्वाध्याय, सन्तोष, शौच और ईश्वरपूजन ये संक्षेप से योगसिद्धि प्रदान करनेवाले नियम कहे गये हैं । उपवास,

उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥
वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः ।
सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥
स्वाध्यायस्य त्रयो भेदा वाचिकोपांशुमानसाः ।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं प्राहुर्वेदार्थवादिनः ॥
यः शब्दबोधजननः परेषां शृण्वतां स्फुटम् ।
स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्त उपांशोरथ लक्षणम् ॥
ओष्ठयोः स्पन्दमात्रेण परस्याशब्दबोधकः ।
उपांशुरेष निर्दिष्टः साहस्रो वाचिकाज्जपः ॥
यत्पदाक्षरसंगत्या परिस्पन्दविवर्जितम् ।
चिन्तनं सर्वशब्दानां मानसं तं जपं विदुः ॥
यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति ।
या धीस्तामृषयः प्राहुः संतोषं सुखलक्षणम् ॥

पराक तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतोंद्वारा शरीरको सुखा देना—इसे तपस्वियोंने उत्तम 'तप' कहा है। वेदान्त (उपनिषद्) एवं शतरुद्रीय आदिके पाठ तथा प्रणवादि मन्त्रोंके जपको बुधजन मनुष्योंके अन्तः-करणकी शुद्धि करनेवाला 'स्वाध्याय' कहते हैं। स्वाध्यायके तीन भेद हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। इनमें क्रमशः अगले-अगलेको वेदका मर्म जाननेवालोंने श्रेष्ठ कहा है। जो स्वाध्याय दूसरे सुननेवालोंको स्पष्टतया शब्दबोध करानेवाला हो वह वाचिक कहलाता है। उपांशुका लक्षण यह है कि जो दूसरोंको शब्दबोध न करावे, केवल ओठोंके हिलनेमात्रसे किया जाय। यह उपांशुका स्वरूप बताया गया है। वाचिक स्वाध्यायकी अपेक्षा यह सहस्रगुण श्रेष्ठ है। जो पद और अक्षरोंको संगतिके अनुसार, बिना किसी प्रकारका हलन-चलन किये, सभी शब्दोंका केवल चिन्तन करना है उसे मानस जप कहते हैं। पुरुष को जो दैववश प्राप्त हुए पदार्थमें ही सर्वथा अलंबुद्धि होना है

बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिरथान्तरम् [१]॥
स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ॥" इति ।

अत्र यद्वैधहिंसाया अहिंसात्वमुक्तं तच्छौचाचमनाद्यपरिहार्यहिंसापरं गृहस्थादिकर्तव्यहिंसापरं वा । भाष्यकारैर्यज्ञादिषु हिंसाया अपि त्यागस्तु महाव्रतत्वेन विहितः । भाष्यकारोक्तं चेश्वरप्रणिधानं सर्वकर्मार्पणरूपमीश्वरगीतोक्तपूजनादीना[२]मुपलक्षणमिति ।

अनयोर्यमनियमयोर्मध्ये यमानां निवृत्तिमात्रतया देशकालाद्यपरिच्छिन्नत्वसंभवेन तन्निमित्तिका महाव्रतसंज्ञा सूत्र-

उसे ऋषियोंने सुखरूप 'सन्तोष' कहा है। ब्राह्मणोंने बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका 'शौच' बतलाया है। मृत्तिका और जलसे होनेवाला बाह्य शौच माना गया है और मनकी शुद्धि आन्तर शौच है। स्तुति, स्मरण और पूजाके द्वारा भगवान्‌में मन, कर्म और शरीर द्वारा निश्चल भक्ति होना—यही 'ईश्वरपूजन' है।'

यहाँ जो शास्त्रविहित हिंसाको अहिंसा बतलाया है वह शौच-आचमनादिमें होनेवाली अनिवार्य हिंसा है अथवा गृहस्थादिसे होनेवाली कर्त्तव्यरूप हिंसा समझनी चाहिये, क्योंकि भाष्यकारने यज्ञादिमें होनेवाली हिंसाका तो महाव्रतरूपसे त्याग ही बतलाया है। भाष्यकारने जो सर्वकर्मार्पणरूप ईश्वर-प्रणिधान कहा है वह ईश्वरगीतोक्त पूजनादिका ही उपलक्षण कराता है।

इन यम और नियमोंमें यम केवल निवृत्तिरूप हैं, अतः ये देशकालादिसे अपरिच्छिन्नरूपसे भी हो सकते हैं, इसीसे इस प्रकार होनेवाले

१ शुद्धिस्तथान्तरम्—प. २ पु. । २ पूजादीनां—पा. ३ पु. ।

कारेणोक्ता । नियमानां तु प्रवृत्तिरूपतया देशकालादियन्त्रितत्वेन नास्ति महाव्रतत्वरूपोऽवान्तरविशेषः ।

इति यमनियमौ व्याख्यातौ ।

आसनं व्याख्यायते । तत्र यावत्यो जीवजातयस्तासामुपवेशनेपु संस्थानविशेषाः[1] सर्वं एवासनानि भवन्ति । तेषु मुख्यानि त्रीण्यासनानीश्वरगीतादिपूक्तानि । यथा—

"आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्धासनं तथा ।
आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम् ॥
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्राः कृत्वा पादतले उभे ।
समासीतात्मनः पद्ममेतदासनमुत्तमम् ॥
एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्तोरुणि सत्तमाः ।
आसीतार्धासनमिदं योगसाधनमुत्तमम् ॥

यमोंको सूत्रकारने 'महाव्रत' नामसे कहा है। किन्तु नियम प्रवृत्तिरूप हैं, वे देश-कालादिसे परिच्छिन्न ही रहते हैं। अतः उनमें महाव्रतत्वरूप अन्य विशेषता नहीं रह सकती ।

इस प्रकार यम और नियमोंकी व्याख्या हुई ।

आसन—अब आसनोंकी व्याख्या की जाती है। संसारमें जीवोंकी जितनी जातियाँ हैं उनके बैठनेमें जितने प्रकारके संस्थानविशेष हैं वे ही सब आसन हैं। उनमें से मुख्य तीन आसनोंका ईश्वरगीता आदि ग्रन्थोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

'स्वस्तिक, पद्म और अर्ध जो आसन कहे गये हैं वे सभी आसनोंमें श्रेष्ठ है। विप्रप्रवर! साधकको अपने दोनों पैर दोनों जंघाओं पर रखकर बैठना चाहिये। यह उत्तम पद्मासन है। हे सत्तम! जब अपना एक पैर एक जंघापर रखकर बैठे तब यह योगका उत्तम साधन

---

१ संस्थानविशेषेपु—पा. २ पु.।

उभे कृत्वा पादतले जानूर्वोरन्तरेण हि ॥
समासीतात्मनः प्रोक्तमासनं स्वस्तिकं परम् ॥" इति ।

आसनस्य प्रपञ्चस्त्वत्र राजयोगप्रकरणत्वान्न क्रियते । आसन-नाडीशुद्ध्यादयस्तु हठयोगादिग्रन्थेष्वशेषतो द्रष्टव्याः । आसनं व्याख्यातम् ।

प्राणायामो व्याख्यायते । रेचकः पूरकः कुम्भकश्चेति त्रिविधः प्राणायामः । केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः । तदुक्तं नारदीये—

"रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः शून्यकस्तथा ।
एवं चतुर्विधः प्रोक्तः प्राणायामो मनीषिभिः ॥
जन्तूनां दक्षिणा नाडी पिङ्गला परिकीर्तिता ।
सूर्यदैवतका चैव पितृयोनिरिति स्मृता ॥

अर्धासन होता है । और जब अपने दोनों पैरोंके तलुओंको दोनों जाँघोंमें दबाकर बैठे तो यह श्रेष्ठ स्वस्तिक आसन होता है ।'

यह राजयोगका प्रसंग है, इसलिये यहाँ आसनोंका विशेष विस्तार नहीं किया जाता । आसन और नाडीशुद्धि आदि विषयोंका पूर्ण विवरण तो हठयोग आदिके ग्रन्थोंमें देखना चाहिये । यह आसनकी व्याख्या हुई ।

प्राणायाम—प्राणायामकी व्याख्या की जाती है । रेचक, कुम्भक और पूरक–तीन प्रकारका प्राणायाम होता है तथा केवल कुम्भक चतुर्थ प्राणायाम है । नारदीय पुराणमें ऐसा कहा है—

'रेचक, पूरक कुम्भक और शून्य इस तरह चार प्रकारका प्राणायाम बुद्धिमानोंने बताया है । जीवोंकी जो दायीं नाडी है वह पिंगला कही जाती है । वह सूर्य देवतावाली और पितृयोनि भी मानी गयी है ।

देवयोनिरिति ख्याता इडा नाडी तु वामगा[1] ।
तत्राधदैवतं चन्द्रः शृणुध्वं गदतो मम ॥
एतयोरुभयोर्मध्ये सुषुम्णा नाडिका स्मृता ।
अतिसूक्ष्मा गुह्यतमा ज्ञेया सा ब्रह्मदैवता ॥
वामेन रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः ।
पूरयेद्दक्षिणेनैव पूरणात्पूरकः स्मृतः ॥
स्वदेहे पूरितं[2] वायुं निगृह्य न विमुञ्चति ।
संपूर्णकुम्भवत्तिष्ठेत्कुम्भकः स हि विश्रुतः ॥
न गृह्णाति त्यजति न वायुमन्तर्बहिः स्थितम् ।
ज्ञेयं तच्छून्यकं नाम प्राणायामं यथास्थितम् ॥" इति ।

याज्ञवल्क्यादौ च,

"पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ।
प्राणायामस्त्रिधा ज्ञेयः कनीयोमध्यमोत्तमः ॥

इडा नामकी जो बायीं नाडी है वह देवयोनि कही गयी है। सुनिये, मैं बताता हूँ, उनका अधिदेव चन्द्रमा है। इन दोनोंके बीचमें सुषुम्ना नाडी मानी गयी है। उसे अति सूक्ष्म और गुह्यतम समझना चाहिये। उसका देवता ब्रह्मा है। बायीं नाडी से वायुको निकाल देना चाहिये। इसे रेचन (निःसरण) के कारण 'रेचक' प्राणायाम कहते हैं। फिर दायीं नाडीसे वायु भरे। पूरण (भरने) के कारण यह क्रिया 'पूरक' कहलाती है। इस प्रकार अपने शरीरमें भरे हुए उस वायुको रोककर जब योगी उसे नहीं छोड़ता और भरे हुए घड़े के समान स्थिर रहता है तो इसे ही 'कुम्भक' कहते हैं। फिर जब वह शरीरसे बाहर एवं भीतर स्थित वायुको न तो ग्रहण करता है और न त्यागता है तो इस यथास्थित प्राणायामको 'शून्य' समझना चाहिये'।

याज्ञवल्क्यादि स्मृतियोंमें भी कहा है—'पूरक, कुम्भक और उसके पश्चात् रेचक—इस क्रमसे कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम तीन प्रकारका

---

१ वामतः—पा. १ पु. । २ पूरकं—पा. १ पु. ।

द्वादशमात्रः कनीयान्मध्यमो मात्राचतुर्विंशः ।
उत्तमः षट्त्रिंशन्मात्रो मात्राभेदाः स्मृतास्तज्ज्ञैः ॥"

इत्याद्युक्तम् ।

अत्र प्राणायामस्य पूरकादिक्रमकथनान्नारदाद्युक्तो रेचकादिक्रमो वैकल्पिक इति ।

अस्मिंश्चतुर्विधप्राणायामे सूत्रकारेणायं विशेष उक्तः । आदौ यत्सहितं त्रयमभ्यस्यते, तच्च देशकालसंख्याभिरवधृतं भवति, तदा दीर्घसूक्ष्मसंज्ञकं भवति । तत्र रेचकस्य देशो नासिकाग्राद्बहिर्द्वादशाङ्गुलादिः । स च 'इषीकातूलादिक्रियया

प्राणायाम समझना चाहिये। प्राणायामके मर्मज्ञोंने इनकी मात्राओंके भेद इस प्रकार माने हैं—कनिष्ठ प्राणायाम बारह मात्राओंका होता है, मध्यम चौबीस मात्राओंका और उत्तम छत्तीस मात्राओंका होता है।'

यहाँ (याज्ञवल्क्यस्मृति में) प्रणायामका क्रम पूरक से आरम्भ किया है ; अतः ऊपर जो नारदपुराणोक्त क्रम रेचक से आरम्भ होनेवाला है उसे वैकल्पिक* समझना चाहिये।

इस उपर्युक्त चार प्रकार के प्रणायामके विषय में सूत्रकारने विशेष बात यह कही है कि पहले जो तीन प्रकार के सहित◈ प्रणायाम का अभ्यास किया जाता है उसका देश, काल और संख्या के द्वारा निश्चय किया जाता है। तब उसकी दीर्घ या सूक्ष्म संज्ञा होती है। इनमें रेचकका देश नासिकाग्रसे लेकर बाहरी ओर द्वादश अङ्गुल आदि है। उसका रूईके रूएँ आदिकी क्रियासे निश्चय किया जा

---

१ ईषीका—पा. २ पु.।

* अर्थात् अभ्यासी इन दोनों क्रमोंमें से किसी भी एक क्रमसे अभ्यास कर सकता है।

◈ जिस प्राणायाममें रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों रहते हैं उसे 'सहित प्राणायाम' कहा जाता है।

निश्चेयः । पूरकस्य चामस्तकमापादतलमाभ्यन्तरो देशः। स च पिपीलिकास्पर्शतुल्यस्पर्शेन निश्चेयः । कुम्भकस्य च रेचकपूरकयोर्बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः, उभयत्रैव प्राणस्य वृत्तिनिरोधात् । स चोक्तलिङ्गद्वयानुपलब्ध्या निश्चेयः[1] । एवं देशेनावधृतो व्याख्यातः ।

कालेनावधृतो यथा—'एतावत्क्षणं रेचकः कर्तव्यः' 'एतावत्क्षणं पूरकः कर्तव्यः' 'एतावत्क्षणं कुम्भकः कर्तव्यः' इत्येवमङ्गीकृतकालैरवधृत इति । संख्याभिरवधृतस्तु यथा मात्राणां द्वादशादिसंख्यात्रयेणावधृत इति । अत्र देशादित्रयाणां प्राणायामपरिच्छेदकत्वे विकल्प एव, न तु समुच्चयः; केवल-

सकता है । पूरकका देश मस्तकसे लेकर पादतल पर्यन्त शरीरके भीतर है । उसका चींटीके स्पर्शके समान वायुके स्पर्शद्वारा निश्चय किया जा सकता है । कुम्भकका देश तो रेचक और पूरक दोनों ही के बाह्य और आभ्यन्तर देश मिलकर हो सकते हैं, क्योंकि दोनों ही स्थानोंमें प्राणकी गतिका निरोध किया जा सकता है और उसका निश्चय उपर्युक्त दोनों लिंगोंकी उपलब्धि न होनेपर होता है। इस प्रकार देशके द्वारा निश्चित हुए प्राणायामकी व्याख्या हुई ।

काल के द्वारा निश्चित इस प्रकार है जैसे—'रेचक इतने क्षणतक करना चाहिये, पूरक इतने क्षणतक और कुम्भक इतने क्षणतक' इस प्रकार अङ्गीकार किये हुए कालों द्वारा इनका निश्चय करना । तथा मात्राओं की द्वादश आदि तीन प्रकार की संख्याओं से निश्चय किया हुआ प्राणायाम संख्या के द्वारा निश्चित कहलाता है । यहाँ देशादि (देश, काल और संख्या) इन तीनों को जो प्राणायाम का परिच्छेदक बताया गया है इसमें विकल्प ही समझना चाहिये,

---

१ कुम्भकस्य च पूरकदेश एव विषयः, त्रयाणां सहानुष्ठाने पूरकानन्तरमेव श्रवणात् । स चोक्तलिङ्गानुपलब्ध्या निश्चेयः—पा. ३ पु. ।

मात्राभिरपि प्राणायामपरिच्छेदस्य बहुशः स्मरणादिति। एवमभ्यासक्रमेण यदा देशकालसंख्याभिः परिच्छेद्यौ रेचक-पूरकौ विनैव माससंवत्सरादिस्थायी बहुदेशस्थायी[1] कुम्भको भवति, स केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः। तस्मिन्सत्या-काशगमनादिसिद्धयो जायन्ते। तदुक्तं वसिष्ठसंहितायाम्—

"रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः॥
सहितं केवलं वाऽपि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत्।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥

समुच्चय नहीं; [अर्थात् देश, काल और संख्या तीनों में से किसी एक के द्वारा भी प्राणायाम की दीर्घता या सूक्ष्मता का माप हो सकता है, तीनों ही के द्वारा उसका निश्चय करना आवश्यक नहीं है;] क्योंकि केवल मात्राओं द्वारा भी प्राणायाम के परिच्छेद का अनेक प्रकार से स्मृतियों में उल्लेख हुआ है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब देश, काल और संख्या से परिच्छेद्य रेचक और पूरक के बिना ही मास और वर्षों तक रहनेवाला कुम्भक बहुदेशव्यापी हो जाता है तो वही केवल कुम्भक नामका चतुर्थ प्राणायाम कहा जाता है। उसके हो जाने पर आकाश गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यही बात वसिष्ठसंहिता (योगवासिष्ठ) में इन वाक्यों द्वारा कही गयी है।

'रेचक और पूरक को त्यागकर जो सुखपूर्वक वायुको धारण करना है वही केवल कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है। नित्य ही सहित या केवल कुम्भकका अभ्यास करना चाहिये। जब तक केवल कुम्भक सिद्ध न हो तब तक सहित कुम्भकका अभ्यास करे। रेचक और पूरकसे

---

१ व्यापी--पा. ३ पु.।

केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते" ॥

इत्यादिभिरिति ।

प्राणायामे च मात्रा मार्कण्डेयपुराणादिषूक्ता—

"निमेषोन्मेषणे मात्रा तालो लघ्वक्षरं तथा ।
प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृता द्वादशमात्रिका[1] ॥"

इत्यादिभिः ।

मात्रा प्रमाणम् । द्वादशमात्रिका द्वादशगुणिता । इदं च द्वादशमात्रिकत्वं त्रिष्वेव सामान्यवचनात् । वसिष्ठसंहितादौ तु पूरकं षोडशमात्राभिः, कुम्भकं चतुःषष्टिमात्राभिः, रेचकं तु द्वात्रिंशन्मात्राभिरित्युक्तम् । अतो मुख्यकल्पानुकल्परूपेणात्र व्यवस्थेति ।

रहित जो केवल कुम्भक है उसके सिद्ध हो जानेपर उस योगीको तीनों लोकोंमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता ।'

प्राणायामके मापकी जो मात्रा है उसका मार्कण्डेय पुराण आदि ग्रन्थोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—'आँखोंके मूँदने और खोलनेमें, हाथोंसे ताली बजानेमें और एक लघु अक्षरके उच्चारणमें जितना समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं । प्राणायामकी संख्या करनेके लिये ऐसी द्वादश मात्राएँ स्मृतियोंमें बतायी हैं ।'

'मात्रा' एक प्रमाण है । इससे बारह गुनी द्वादश मात्राएँ होती हैं । यह द्वादश मात्रा काल तीनोंही प्राणायामोंके लिए समान रूपसे कहा गया है । किन्तु वसिष्ठसंहिता आदि ग्रन्थोंमें तो पूरक सोलह मात्राओंसे, कुम्भक चौंसठ मात्राओंसे और रेचक बत्तीस मात्राओंसे करने का विधान है । अतः मुख्य कल्प (प्रधान विधि) और अनुकल्प (गौण विधि) मानकर इन दोनों ही वाक्योंकी गति लगायी जा सकती है ।

---

१ स्मृतिर्द्वादशमात्रिका—पा. १ पु. ।

अन्यश्च प्राणायामे विशेषो नारदीयादिषूक्तः—

"अगर्भश्च सगर्भश्च द्वितीयस्तु तयोर्वरः।
जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः"॥

इत्यादिभिः। तत्र जपमन्त्र ईश्वरगीतायामुक्तः—

"सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥" इति।

योगियाज्ञवल्क्ये तु —

"मात्राप्रमाणयोगेन प्राणापाननिरोधनात्।
ॐकारेण तु कर्तव्यः प्राणायामो यथोदितः॥" इति।

केवलप्रणवजपोऽयं परमहंसानाम्। ध्यानं च पूरकादिक्रमेण नाभिहृदयललाटेषु ब्रह्मविष्णुशिवरूपाणां स्मृतिषूक्तम्। परमहंसानां

नारदीय पुराणादिमें प्राणायामकी एक दूसरी विशेषता यह बतायी है—'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ भेदसे दो प्रकारका है। इनमें दूसरा श्रेष्ठ है। जप और ध्यानसे रहित प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है और इनसे युक्त 'सगर्भ' कहा जाता है।' सो ईश्वर-गीतामें जपमन्त्र इस प्रकार बताया गया है—'प्राणोंका संयम करके व्याहृति, प्रणव और शिरोमन्त्रके सहित गायत्रीका तीन बार जप करे। इसे ही प्राणायाम कहते हैं।' तथा योगियाज्ञवल्क्यमें कहा है—'प्राण और अपानका निरोध करके मात्राओंके प्रमाणानुसार ओंकार जप करते हुए विधिवत् प्राणायाम करना चाहिये।'

यह जो केवल प्रणवका जप है वह परमहंस संन्यासियों के लिये है। स्मृतियोंमें पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय क्रमशः नाभि, हृदय और ललाट देशमें ब्रह्मा, विष्णु और शंकरके स्वरूपका ध्यान करना कहा है। तथा 'संयतचित्त यति प्रणवके द्वारा परब्रह्मका चिन्तन करे'

तु केवलमेव ब्रह्म ध्येयमुक्तम् 'प्रणवेन परब्रह्म[1] ध्यायीत निवतो यतिः' इत्यादिस्मृतिभिरिति दिक्।

इति प्राणायाम उक्तः।

प्रत्याहार उच्यते। नारदीये—

"विषयेषु प्रसक्तानि इन्द्रियाणि मुनीश्वराः।
समाहृत्य निगृह्णाति[2] प्रत्याहारस्तु स स्मृतः॥
अनिर्जित्येन्द्रियग्रामं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
मूढात्मानं च तं विद्याद्ध्यानं चास्य न सिध्यति॥"

इति।

इन्द्रियाणां निग्रहश्च वशीकरणम्, स्वेच्छानुविधायी[3] करणमिति यावत्। प्रत्याहार उक्तः।

यमादीनि चैतानि प्रत्याहारान्तानि योगाङ्गानि देह-

इत्यादि स्मृतियों द्वारा परमहंसके लिये केवल ब्रह्म ही ध्येय बतलाया गया है। ऐसा यहाँ समझना चाहिये। इस प्रकार प्राणायामका वर्णन हुआ।

प्रत्याहार—प्रत्याहारका वर्णन किया जाता है। नारदपुराणमें कहा है—'हे मुनीश्वरो! योगी जो विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंको सब ओर से हटाकर उनका निग्रह करता है वह प्रत्याहार कहलाता है। जो पुरुष इन्द्रियोंको अधीन किये बिना ही ध्यानमें लग जाता है उसे तो मूढचित्त ही समझना चाहिये। उसे ध्यान सिद्ध भी नहीं हो सकता।'

इन्द्रियोंको अपने वशमें करना अर्थात् उन्हें अपनी इच्छाकी अनुवर्तिनी बना लेना ही उनका निग्रह है। यह प्रत्याहारका वर्णन हुआ।

यमसे लेकर प्रत्याहार पर्यन्त जो ये योगके अंग हैं वे देह, प्राण

---

१ परं ब्रह्म—पा. २ पु.। २ निगृह्णानि—पा. १ पु.।
३ नुविधया—पा. १ पु.।

प्राणेन्द्रियाणां निग्रहरूपाणि । इतः परं चित्तनिग्रहरूपं धारणाद्यङ्गत्रयमभ्यर्हितं वक्तव्यम् ।

तत्र धारणोच्यते । 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो. ३. १.) । यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र चित्तस्य स्थिरीकरणमिति यावत् । देशाश्चोक्ता ईश्वरगीतायाम्—

"हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके ।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ॥" इति ।

ननु मूर्त्यादियोगे देशो घटते; सत्त्वपुरुषान्यतायोगे शुद्ध-ब्रह्मयोगे वा कथं देशो घटतां ध्येयस्यापरिच्छिन्नत्वादिति चेत् ' अग्नेरिन्धनवत्स्वस्वोपाधिवृत्तेरेव तदुभयदेशत्वादिति ।

और इन्द्रियोंके निग्रहरूप ही हैं। इससे आगे योगके तीन प्रधान अंग धारणादिका, जो चित्तनिग्रह रूप हैं, वर्णन करना है ।

धारणा—उनमेंसे धारणाका वर्णन किया जाता है। चित्तको किसी देश-विशेषमें बाँध देना धारणा है। अर्थात् जिस देशमें ध्येयका चिन्तन करना हो उसमें चित्तको स्थिर कर देना। ईश्वरगीतामें देश ये बताये हैं—'हृदयकमल, नाभि, मूर्धा अथवा पर्वतशिखर इत्यादि देशोंमें चित्तको बाँध देना धारणा है ।'

प्रश्न—देशकी बात तो मूर्त्ति आदिके सम्बन्धमें घट सकती है; सत्व और पुरुषकी अन्यताख्याति अथवा शुद्ध ब्रह्मसम्बन्धी योगमें देशका किस प्रकार सम्बन्ध रह सकता है, क्योंकि यहाँ तो ध्येय अपरिच्छिन्न होता है ।

उत्तर—जैसे अग्नि अपनी उपाधि ईंधन आदिमें रहती है उसी प्रकार अपनी-अपनी उपाधिमें उपलब्ध होना यही इन ब्रह्म और सत्त्व (सत्त्वादि गुणरूपा प्रकृति) दोनोंका देश सम्बन्ध समझना चाहिये ।*

* अर्थात् जिस प्रकार व्यापक होने पर भी ईंधन आदि को अग्निका आश्रय कहा जाता है वैसे ही यद्यपि ब्रह्म और प्रकृति दोनों ही व्यापक हैं तथापि जिस हृदय आदि उपाधिमें इनकी उपलब्धि होती है वही इनका देश है ।

यावत्कालावस्थित्या धारणादित्रयं भवति, स काल ईश्वर-गीतायामवधृतः—

"धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादश धारणाः ।
ध्यानद्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते ॥" इति ।

द्वादश आयामाः प्राणयामा यावत्कालेन भवन्ति तावत्काल-परिमितं चित्तस्य यथोक्तैकाग्र्यं धारणेत्यर्थः । धारणोक्ता ।

ध्यानमुच्यते । तत्र देशे ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तरा-व्यवहितो ध्यानम् । यथा हृत्पुण्डरीकादौ चतुर्भुजादिचिन्तनम्, बुद्धिवृत्तौ वा तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम्, कारणोपाधौ चेश्वर-चिन्तनमिति । ईश्वरगीतायामप्येतदेवोक्तम्—

"देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिसंततिः ।
वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः ॥" इति ।

धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों कितने-कितने समय की स्थिति होनेपर सिद्ध होते हैं इसका निर्णय ईश्वरगीता में इस प्रकार किया है—'बारह आयाम की धारणा होती है, बारह धारणाएँ होनेपर ध्यान होता है और बारह ध्यान के बराबर स्थिति होनेपर समाधि कही जाती है।' तात्पर्य यह है कि बारह आयाम अर्थात् बारह प्राणायाम जितने समय में होते हैं उतने समय तक चित्तकी पूर्वोक्त प्रकारकी एकाग्रता 'धारणा' कहलाती है। इस प्रकार धारणाका वर्णन हुआ ।

ध्यान—ध्यान का वर्णन किया जाता है। उस (धारणा के) देश में अन्य वृत्तियों से अव्यवहित जो ध्येयाकार वृत्तियोंका प्रवाह है वह 'ध्यान' कहलाता है। जैसे हृदयकमल आदि में चतुर्भुज आदि भगवद्विग्रहका चिन्तन करना अथवा बुद्धिवृत्तिमें उससे पृथक् करके चैतन्य का चिन्तन करना अथवा कारणरूपा उपाधि में ईश्वर का चिन्तन। यही बात ईश्वरगीता में भी कही है—'देशसम्बन्धिनी स्थिति का आश्रय लेकर जो अन्य वृत्तियोंसे असंस्पृष्ट बुद्धिकी वृत्तियोंका प्रवाह है उसीको विद्वान्लोग ध्यान समझते हैं' ।

ध्यानसमाध्योरपि कालनियम उक्त एवेति । ध्यानमुक्तम् ।

समाधिरुच्यते । तदेव ध्यानं यदा ध्येयावेशवशाद्ध्यानध्येयध्यातृभावदृष्टिशून्यं सद्ध्येयमात्राकारं भवति, तदा समाधिरुच्यते । कालनियमश्चोक्त एव । ध्यानाच्चास्यान्योऽपि विशेषोऽस्ति । अत्यन्ताभ्यर्हितादिविषयैरिन्द्रियसंनिकर्षे ध्यानस्य भङ्गो भवति, न तु समाधेरिति । तथा च स्मर्यते—

"तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किंचिद्बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥" इति ।

अत्र समाधिलक्षणे वृत्त्यन्तरनिरोधो न विशेषणं निरोधस्याङ्गित्वात्, किं तूपलक्षणमेवेति मन्तव्यम् । एतत्कालीनेनैव

ध्यान और समाधि के कालों का नियम पहले बताया ही जा चुका है। यह ध्यान का वर्णन हुआ।

समाधि—अब समाधि का वर्णन किया जाता है। वही ध्यान जब ध्येय वस्तु के आवेश से ध्याता ध्येय और ध्यान दृष्टि से शून्य होकर केवल ध्येयमात्राकार हो जाता है तब समाधि कहा जाता है। इसके कालका नियम तो बताया ही जा चुका है। ध्यान से इसकी एक विशेषता और भी है। ध्यान का तो इन्द्रियों से अत्युत्कृष्ट विषयोंका सम्पर्क होने पर भंग हो जाता है, किन्तु समाधि का नहीं होता। ऐसा ही स्मृति (श्रीमद्भागवत) का वचन भी है— तब इस प्रकार आत्मा में चित्त का निरोध हो जानेपर योगी किसी भी बाह्य अथवा आभ्यन्तर वस्तु को नहीं देखता, जिस प्रकार कि तीर बनानेवालेने तीरमें चित्त लगा रहने के कारण अपने पास होकर जाते हुए राजा को नहीं देखा'।

यहाँ समाधि के लक्षण में अन्य वृत्तियों के निरोध को उसका विशेषण नहीं बतलाया गया, क्योंकि यहाँ निरोध तो अङ्गी ही है, उसे तो समाधि का उपलक्षण (सूचक) ही मानना चाहिये। इस समय

वृत्तिनिरोधेन ध्येयसाक्षात्कारो जन्यत इत्यतः समाधिः संप्रज्ञातयोगस्य चरमाङ्गं भवति ।

ननु यदि समाधिकाल एव वृत्त्यन्तरनिरोधरूपः संप्रज्ञातयोगो भवति, तदा निरोधस्यैवाङ्गित्वे किं नियामकमिति चेत्'

उक्तमेव पुनः स्मार्यते । चित्तं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं विभुत्वात्प्रकाशस्वभावत्वाच्च दर्पणवत् । तथाऽपि विषयान्तरावेशदोषादभीष्टार्थो भाव्यमानोऽपि न साक्षात्कर्तुं शक्यते । अतो विषयान्तरवृत्तिनिरोध एव प्रतिबन्धकाभावरूपतया ध्येयसाक्षात्कारे साक्षात्कारणं भवति । समाधिरपि तु तत्राङ्गमेव, साक्षात्कारे वृत्त्यन्तरनिरोधद्वारैव हेतुत्वादिति ।

होनेवाले वृत्तियों के निरोध से ही ध्येयका साक्षात्कार होता है, अतः समाधि तो सम्प्रज्ञात योगका चरम अंग है ।

प्रश्न—यदि समाधिके समय ही अन्य वृत्तियों का निरोधरूप सम्प्रज्ञात योग होता है तो उस अवस्था में निरोधको ही समाधिका अङ्गी निश्चित करनेवाला कौन रहता है ।

उत्तर—यह बात पहले कही जा चुकी है । उसीका अब पुनः स्मरण कराया जाता है । चित्त स्वयं ही विभु और प्रकाशस्वरूप होने के कारण दर्पण के समान समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने में समर्थ है । किन्तु अन्यान्य विषयों के समावेश का दोष रहने के कारण यह भावना करने पर भी अपने अभीष्ट पदार्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकता । अतः अन्य विषयोंमें जानेवाली वृत्तियों का निरोध ही प्रतिबन्धकाभावरूप होनेके कारण ध्येयके साक्षात्कार में मुख्य कारण होता है । समाधि भी उसमें केवल अंग ही है, क्योंकि ध्येय के साक्षात्कार में वह वृत्त्यन्तरके निरोध द्वारा ही कारण होती है ।

तदेवं धारणादित्रयं व्याख्यातम् । एतच्च त्रयमेकस्मिन्नालम्बने वर्तमानं संयम इत्युच्यते । तस्य च संयमस्य स्थूलादिक्रमेण विविक्तपरमात्मपर्यन्तं भूमिषु विनियोगः कर्तव्यः, 'तस्य भूमिषु विनियोगः' (यो. ३. ६.) इति सूत्रात्,

"स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत् ।"

इति स्मृतेश्च ।

अयं तूत्सर्ग एवेति प्रागेवोक्तम् । यतो यदीश्वरप्रसादात्सद्गुरुप्रसादाद्वाऽऽदावेव सूक्ष्मसूक्ष्मभूमिकायामवस्थितियोग्यता स्वचित्तस्य दृश्यते तदा न स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकया मुमुक्षुभिः कालक्षेपः कर्तव्यः उत्तरभूमिकारोहरूपस्य पूर्वभूमिकाप्रयोजनस्यान्यत एव सिद्धेः । तथा च स्मर्यते—

"सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत्स्वार्थसाधकम् ।

संयम—इसप्रकार धारणादि अन्तरंग योगाङ्गोंकी व्याख्या हुई । ये ही तीनों जब एक ही आलम्बनमें रहते हैं तो 'संयम' कहलाते हैं । इस संयमका स्थूल तत्त्वोंसे लेकर सर्वातीत परमात्मा पर्यन्त सम्पूर्ण भूमियोंमें विनियोग करना चाहिये । 'उसका भूमियों में विनियोग करें' इस सूत्र और 'स्थूलमें जीते हुए चित्त को फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म विषयोंमें ले जाय' इस स्मृतिद्वारा भी यही बात सिद्ध होती है ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि यह सर्व साधारण के लिये सामान्य नियम है, क्योंकि यदि भगवान् या सद्गुरु की कृपासे अपने चित्तकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भूमिकाओं में स्थिर होनेकी योग्यता दिखायी दे तो स्थूलादिपूर्व-पूर्व भूमिकाओं में लगाकर मुमुक्षुओंको अपना समय नहीं खोना चाहिये; कारण कि उत्तर भूमिकाओं में आरूढ़ होनारूप जो पूर्व भूमिकाओं का प्रयोजन है वह तो इसे [भगवत्कृपा रूप] दूसरे ही उपाय से प्राप्त हो चुका है । ऐसा ही यह स्मृति भी कहती है—'जो अपने प्रयोजन की पूर्ति करनेवाला हो ऐसे एक ही सारभूत ज्ञानका

ज्ञानानां वहुता यैषा योगविघ्नकरी हि सा ॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् ।
आ स कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥" इति ।

अतोऽत्र प्रकृष्टाधिकारिणां परमात्मालम्बन एव संयमप्रकारोऽस्माभिरुदाह्रियते । सत्त्वपुरुषान्यतालम्बनस्य तु संयमस्य प्रकारांस्तच्छेषतयैव वक्ष्यामः । तत्र परमात्मसंयमे नारदीयहरिभक्तिसुधोदयस्थ प्रकारः कथ्यते । यथा—

नारद उवाच ।
"विलाप्य विस्तरं कृत्स्नं चिदेकरसबोधने ।
राजयोगं प्रवक्ष्यामि तं शृणुध्वं द्विजोत्तमाः ॥ १ ॥
वेदान्तेभ्यः सतां सङ्गात्सद्गुरोश्च स्वतस्तथा ।
ज्ञेयोऽन्तः प्रकृतेरन्य आत्मा सम्यङ् मुमुक्षुभिः ॥ २ ॥

आश्रय लेना चाहिये । यह जो ज्ञानों की अनेकता है वह तो योगमें विघ्न करनेवाली ही है । जो पुरुष 'यह भी मेरे जानने की वस्तु है, यह भी मेरे जानने की वस्तु है' इस प्रकार प्यासे की तरह भटकता रहता है वह हजारों कल्पों में भी अपने वास्तविक ज्ञेय को प्राप्त नहीं कर सकता ।'

अतः यहाँ उत्कृष्ट अधिकारियोंके लिये परमात्मारूप आलम्बनमें ही संयम करने का प्रकार हम वर्णन करते हैं । सत्त्व और पुरुष की अन्यताको आलम्बन करनेवाले संयम की विधिका तो हम उसके अंगरूपसे वर्णन करेंगे । सो, अब नारदीय हरिभक्तिसुधोदयमें आये हुए परमात्मसंयम के प्रकार का वर्णन किया जाता है—

नारदजी बोले—'विप्रवर ! मैं चिदेकरस परमात्मा के ज्ञान के लिये सब प्रकार के विस्तार को त्यागकर राजयोगका वर्णन करता हूँ, आप उसे सुने ॥ १ ॥ मुमुक्षु पुरुष को वेदान्त, सत्पुरुषों के संग और सद्गुरु के द्वारा तथा स्वयं भी यह अच्छी तरह जान लेना चाहिये

इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा सङ्गं सर्वं ततस्त्यजेत् ।
अद्वैतसिद्धौ यततामन्यसङ्गो ह्यरिः स्फुटम् ॥ ३ ॥

एकान्ते स्वासनो धीरः शुचिर्दक्षः समाहितः ।
यतेतोपनिषद्दृष्टमायाभिन्नात्मदर्शने ॥ ४ ॥

पराक्प्रवृत्ताक्षगणं योगी प्रत्यक्प्रवाहयेत् ।
रुद्ध्वा मार्गं तदत्यन्तं मुक्ताम्रौघमिवार्जुनः ॥ ५ ॥

स्थापयित्वा पदेऽक्षाणि स्वे स्वेऽन्तस्तु मनः शनैः ।
निवृत्तसैन्यं राजानं वेश्मेवान्तः प्रवेशयेत् ॥ ६ ॥

अन्तःस्थिते[1] च मनसि न चलन्तीन्द्रियाण्यपि ।
अभ्राणि स्तिमितानीव चोदकेऽन्यगतेऽनिले[2] ॥ ७ ॥

कि आत्मा प्रकृति से भिन्न है ॥२॥ इस प्रकार आत्मा को दृढ़तासे जान कर सब प्रकार का संग त्याग दे । जो लोग अद्वैत तत्त्वकी अनुभूति के लिये प्रयत्न करनेवाले हैं उनके लिये अन्य संग तो साक्षात् शत्रु ही है ॥ ३ ॥ साधक एकान्तमें सुखपूर्वक आसनमें बैठकर धैर्य, पवित्रता, दक्षता और सावधानीसे उपनिषत्प्रतिपादित मायातीत परमात्माका साक्षात्कार करने के लिये यत्न करे ॥ ४ ॥ अर्जुन ने जिस प्रकार छोड़े हुए बाणोंको रोक लिया था उसी प्रकार योगी को चाहिये कि बाहर की ओर जानेवाली इन्द्रियों को सर्वथा उनका मार्ग रोककर भीतरकी ओर ले जाय ॥ ५ ॥ सेनाको लौटाकर ले जानेवाला राजा जैसे अपने अन्तःपुरमें प्रवेश करता है वैसे ही इन्द्रियोंको अपने-अपने गोलकोंमें स्थितकर धीरे-धीरे मनको भीतरकी ओर ले जाय ॥ ६ ॥ मन भीतर स्थित हो जानेपर इन्द्रियाँ भी चंचल नहीं रहतीं, जिस प्रकार प्रेरक वायुके शान्त हो जानेपर बादल भी गतिशून्य-से हो जाते हैं ॥ ७ ॥

---

१ अन्तर्नीते च--पा. २. पु. ।   २ अखिले--पा. १. पु. ।

[1]ततो वपुरहंकारबुद्धिभ्योऽन्ये चिदात्मनि ।
तासां प्रवर्तयितरिं स्वात्मनि स्थापयेन्मनः ॥८॥
मुधा कर्तृत्वभोक्तृत्वमानिनं तमथामलम् ।
सर्वात्मनि चिदानन्दघने विष्णौ सुयोजयेत् ॥९॥
सलिले करकाश्मेव[2] दीपोऽग्नाविव तन्मयः ।
जीवो मौढ्यात्पृथग्बुद्धौ युक्तो ब्रह्मणि लीयते ॥१०॥
अयं च जीवपरयोर्योगो योगाभिधो द्विजाः ।
[3]सर्वोपनिषदामर्थो मुनिगोप्यः परात्परः ॥११॥
एवं ब्रह्मणि युक्तात्मा सन्निरन्तरचिद्रसः[4] ।
आसीताभ्यन्तरं बाह्यं विलाप्य जगदात्मनि ॥१२॥
क्रमाद्विलापयन्नेव कठिनांशोपमं जगत् ।
विस्तरं स्वात्मविद्योगी निर्विशेषं विलापयेत् ॥१३॥

फिर शरीर, अहंकार और बुद्धि से भिन्न एवं उनके प्रेरक चेतनस्वरूप अपने आत्मामें मन को स्थापित करे ॥ ८ ॥ जो व्यर्थ ही अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान करता है ऐसे उस निर्मल आत्माको सर्वात्मा चिदानन्दघन भगवान् विष्णुमें सम्यक् प्रकारसे स्थित करे ॥ ९ ॥ जिस प्रकार ओला जलमें और दीपक अग्निमें मिलकर तद्रूप हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानवश अपनेको पृथक् समझनेवाला जीव तत्त्वज्ञानसे युक्त होनेपर ब्रह्ममें लीन हो जाता है ॥ १० ॥ हे द्विजवर ! यह जीव और परमात्माका योग ही योग कहलाता है । यही सम्पूर्ण उपनिषदोंका तात्पर्य है, मुनियोंद्वारा गोपनीय है और श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥ इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर सभीको विश्वात्मामें लीन करके पर-ब्रह्मसे अभिन्न हो निरन्तर चिदानन्दरूपसे स्थित रहे ॥ १२ ॥ इस प्रकार क्रमशः इस कठिनांशरूप जगत्को लीनकर फिर वह आत्मज्ञ योगी विस्तृत निर्विशेष (सूक्ष्म या कारण) जगत्का भी लय कर

---

१ ततः पुनरहंकार--पा. २. पु. । २ करकाश्येव--पा. २. पु. ।
३ स चो--पा. २. पु. । ४ सद्रसः--पा. २. पु. ।

एवं सततयुक्तात्मा क्रमाद्विष्णुमयो भवेत् ।
न हि सैन्धवशैलोऽपि क्षणादम्बुमयो भवेत् ॥१४॥
व्युत्थितोऽपि जगत्कृत्स्नं विष्णुरेवेति भावयन् ।
निर्ममो निरहंकारश्चरेच्छिथिलसंसृतिः ॥१५॥
एवं सततमभ्यासाल्लीनबुद्धेः परात्मनि ।
कर्माणि बुद्धिपूर्वाणि निवर्तन्ते स्वतो द्विजाः ॥१६॥
पूर्वाभ्यासबलात्कार्यो न लौक्यो न च वैदिकः ।
अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ १७ ॥
तद्देहपाते त्व पुनः सर्वगो[1] न स जायते ।
एवमद्वैतयोगेन विमुक्तिर्वो मयोदिता ॥ १८ ॥' इति ।

दे ॥ १३ ॥ इस तरह निरन्तर युक्तचित्त रहनेवाला वह मुनि क्रमशः विष्णुमय ही हो जाता है । [यह सब धीरे-धीरे ही होता है, क्योंकि] नमकका पहाड़ भी एक क्षणमें ही जलरूप नहीं हो सकता ॥ १४ ॥ उसे व्युत्थान अवस्थामें भी सम्पूर्ण जगत्के विषयमें 'यह विष्णु ही है' ऐसी भावना रखनी चाहिये तथा ममता और अहंकारसे शून्य रहकर संसारबन्धनको शिथिल रखते हुए व्यवहार करना चाहिये ॥ १५ ॥ द्विजगण ! इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेसे जिसकी बुद्धि परात्मामें लीन हो गयी है ऐसे उस तत्वदर्शीके बुद्धिपूर्वक कर्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं ॥ १६ ॥ वह लौकिक या वैदिक किसी भी प्रकारके कर्म नहीं करता । उसके सब कार्य केवल पूर्वाभ्यासके कारण ही होते हैं । वह पुण्य-पापसे रहित सर्वात्मा 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है ॥ १७ ॥ वह सर्वगत है, इसलिये देहपात होनेपर उसका पुनर्जन्म नहीं होता । इस प्रकार अद्वैतबोधके द्वारा मैंने तुम्हें मोक्षप्राप्तिका क्रम बतलाया' ॥ १८ ॥

1 सर्वतो—पा. १. पु. ।

एतेषां[1] वाक्यानां कठिनांशो व्याख्यायते। आदौ वेदान्तादिभ्य[2] आत्मानात्मसामान्यं सविकारप्रकृतितो विवेकेनावधार्यमित्येवं साधनैरात्मानं दृढं ज्ञात्वा[3] श्रवणमननाभ्यां निश्चित्य ततः सवसङ्गं त्यजेत्, योगेनात्मसाक्षात्काराय परमहंसाश्रमी भवेत्। अद्वैतसिद्धिर्वक्ष्यमाणाद्वितीयसाक्षात्कारः कैवल्यनिष्पत्तिर्वा।

संन्यस्य यत्कार्यं तदाह—एकान्त इति। उपनिषद्दृष्ट उपनिषत्सु श्रुतः। मायाभिन्नः प्रकृतिविविक्तः। अथ वा मायाशब्देनात्र जीवात्मा[4] विवक्षितः, ततोऽपि विवेकेनात्र परमात्मन एव ज्ञेयतया वक्ष्यमाणत्वात्परमात्मावरकत्वेन जीवेऽपि मायाशब्दप्रयोगौचित्याच्च।

अब इन वाक्योंके कठिन अंशकी व्याख्या की जाती है। पहले वेदान्तादिके द्वारा आत्मा और अनात्माके सामान्य स्वरूपको जानकर अर्थात् प्रकृति और उसके विकारसे आत्माको पृथक् करके जानना चाहिये। इस प्रकार साधनोंके द्वारा आत्माको दृढ़तापूर्वक जानकर—श्रवण और मननके द्वारा उसका निश्चय करके फिर सब प्रकारके संगका त्याग करे अर्थात् योगके द्वारा आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिके लिये संन्यासाश्रम ग्रहण करे। अद्वैतसिद्धि, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, दूसरा साक्षात्कार है, अथवा यह आत्माकी कैवल्यप्राप्ति है।

संन्यास लेकर जो कुछ करना चाहिये वह बात 'एकान्ते' इत्यादिसे कही गयी है। उपनिषद्दृष्ट—उपनिषदोंद्वारा सुने हुए तथा मायाभिन्न—प्रकृतिसे पृथक्। अथवा मायाशब्दसे यहाँ जीवात्माका उल्लेख करना अभीष्ट है, क्योंकि उससे भी पृथक् करके परमात्माको ही यहाँ ज्ञेयरूपसे कहा जायगा तथा परमात्माका आवरण करनेवाला होनेसे जीवके लिये भी माया शब्दका प्रयोग उचित ही है।

---

१ एषां—पा. १. पु.। २ वेदान्तेभ्य—पा. १. पु.।
३ तत्त्वं— पा. १. पु.। ४ अपीत्यधिकः २. पु.।

यत्नप्रकारमाह—परागित्यादिना। पराक् वहिः। प्रत्यक् अन्तरम्। तन्मार्गं बहिर्मार्गम्। अनेन श्लोकेन प्रत्याहार एवोक्तः। यमादयः प्राणायामान्ताश्च बहिरङ्गत्वेनानावश्यकत्वादत्र नोक्ताः। अथ वा 'एकान्ते स्वासनो धीरः' इत्यादि-वाक्येनैव संक्षेपाद्यमाद्यङ्गचतुष्कमुक्तम्।

प्रत्याहारमुक्त्वा संयमप्रकारमाह–ततो वपुरित्यादिद्वाभ्याम्। अत्र प्रथमश्लोकेनान्तर्यामिणः परमात्मनो देशे जीवात्मनि चित्तस्थापनरूपा धारणा प्रोक्ता[1]। मुधेत्यादिश्लोकेन च ध्यानसमाधी संक्षेपेणोक्तौ। तस्यार्थः। तं जीवात्मानं मुधा वृथा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिषु स्वातन्त्र्याभिमानम् अमलमुपाधि-विविक्तत्वाच्छुद्धं सर्वेषां यथोक्तानां देहादिजीवान्तानामात्मनि

'पराक्' इत्यादिसे उस प्रयत्नका प्रकार बताया गया है। 'पराक्' बाहरको कहते हैं और 'प्रत्यक्' भीतरको। 'तन्मार्ग' (उनके मार्ग) अर्थात् उनके बाह्य मार्गको। इस (पाँचवें) श्लोकद्वारा प्रत्याहारका ही वर्णन किया गया है। यमसे लेकर प्राणायामपर्यन्त योगके बाह्य अंग हैं, अतः अनावश्यक होनेके कारण यहाँ उनका वर्णन नहीं किया। अथवा यह समझना चाहिये कि 'एकान्ते स्वासनो धीरः' इत्यादि वाक्यसे ही संक्षेपमें यमादि चार अंगोंका वर्णन कर दिया गया है।

प्रत्याहारका वर्णन करके फिर 'ततो वपुः' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा संयमकी विधि कही गयी है। यहाँ पहले श्लोकद्वारा तो परमात्माके देशस्वरूप जीवात्मामें चित्तको स्थापित करनारूप धारणाका वर्णन किया है तथा 'मुधा' इत्यादि (नवें) श्लोकसे संक्षेपमें ध्यान और समाधिका वर्णन किया गया है। उस श्लोकका तात्पर्य यह है—उस जीवात्माको, जो मुधा-वृथा ही कर्तृत्व भोक्तृत्वादिमें अपनी स्वतन्त्रताका अभिमान करता है, किन्तु जो उपाधिसे पृथक् होनेके कारण सर्वथा निर्मल—

1 धारणोक्ता—पा. २. पु.।

परमात्मनि स्वोपाधिविविक्ते सु योजयेद् विलापयेत्। प्रलीनाखिलजीवकं परमात्मानं चिन्तयेदिति।

ज्ञेयत्वोपपादनाय प्रलयस्यैव तात्त्विकत्वं दृष्टान्तेनाह—सलिल इति। जीवो लोकैर्मोहादेव परमात्मनः पृथग्बुद्धौ विभक्ततया[1] ज्ञायते, विभागस्य नैमित्तिकत्वेनाल्पकालावस्थायित्वादिना च विकारवद्वाचारम्भणमात्रत्वात्। तत्त्वतस्तु जीवो युक्तो योगाख्यसाधनवान् सलिलादौ करकादिरिव[2] ब्रह्मणि लीयते यतस्तन्मयः, तत्कार्य इत्यर्थः।

शेषं स्पष्टप्रायमिति दिक्।

तदेवमष्टौ योगाङ्गान्युक्तानि। तत्राङ्गतायामयं विशेषः सूत्रकारेणोक्तः। प्रत्याहारपर्यन्तपञ्चाङ्गापेक्षया धारणादित्रयं

बुद्ध है, परमात्मामें युक्त अर्थात् लीन करे, जो देहसे लेकर जीवपर्यन्त उपर्युक्त सभीका अन्तरात्मा है और अपनी उपाधियोंसे पृथक् है। तात्पर्य यह कि उस परमात्माका चिन्तन करे जिसमें सम्पूर्ण जीव लीन हैं।

परमात्माके ज्ञेयत्वका उपपादन करनेके लिये 'सलिले' इत्यादि (दसवें) श्लोकसे दृष्टान्तपूर्वक प्रलयकी ही तात्त्विकता बतलाते हैं। लोगोंको मोहवश ही अपनी भेददृष्टिसे जीव परमात्मासे पृथक् जान पड़ता है; क्योंकि यह विकार तो नैमित्तिक है, अतः अल्पकालस्थायित्व आदि दोषोंके कारण यह वाणीका विलासमात्र ही है। तत्त्वतः तो यह युक्त—योगरूप साधनवाला जीव जल आदिमें ओले आदिके समान ब्रह्ममें लीन हो जाता है, अतः तन्मय—उस (ब्रह्म) का कार्य ही है।

और सब प्रायः स्पष्ट ही है—सो दिखला दिया।

सो, इस प्रकार आठ योगाङ्गोंका वर्णन हुआ। इनकी अंगतामें सूत्रकारने यह विशेषता बतायी है कि प्रत्याहारपर्यन्त पाँच अंगोंकी

---

1 विविक्ततया—पा. २. पु.। 2 करका इव—पा. १. पु.।

संप्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गं भवति, पञ्चाङ्गानां प्रायशो देहप्राणेन्द्रियसंस्काररूपत्वात्, धारणादित्रयस्य तु योगाश्रयचित्तसंस्कारत्वात्। किं च पञ्चाङ्गानामभावेऽपि[1] प्राग्भवीयैस्तैः कदाचिद्योगो भवति, धारणादित्रयस्य तु सहभावेनैवाङ्गतया तेन विना योगो न जायत इति। तदेवं धारणादित्रयमन्तरा[2] असंप्रज्ञातस्य निरालम्बनत्वात्, जन्मान्तरीयेण धारणादिनौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याणां देवविशेषाणां भवप्रत्ययासंप्रज्ञातयोगस्योक्तत्वाच्चेति दिक्।

अपेक्षा धारणा आदि तीन अंग सम्प्रज्ञात योगके अन्तरंग साधन हैं, क्योंकि पहले पाँच अंग तो प्रायः प्राण और इन्द्रियोंके संस्काररूप ही हैं और धारणा आदि तीन अंग योगके आश्रयभूत चित्तका संस्कार करनेवाले हैं। इसके सिवा पूर्वजन्मका संस्कार होनेपर पहले पाँच अंगोंके अभावमें भी कभी-कभी इन तीनके द्वारा ही योग सिद्ध हो जाता है। किन्तु धारणादि तीन अंग तो एक साथ रहकर ही योगके अंग बनते हैं, अतः उनके विना योग नहीं हो सकता। और इसी प्रकार निरालम्ब होनेके कारण असम्प्रज्ञात योग इन धारणादि तीन अङ्गोंके विना भी हो सकता है, जैसे कि जन्मान्तरके धारणादिसे जिन्हें जन्मसे ही ज्ञान और वैराग्य प्राप्त हैं ऐसे देवविशेषोंको भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्ति बतायी है; सो सब ध्यानमें रखना चाहिये।

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे
योगसाधननिरूपणं द्वितीयोंऽशः।

———

१ पञ्चाङ्गानामैहिकानामभावेऽपि—पा. २. पु.।

२ तदपि धारणादित्रयमसंप्रज्ञातस्य च बहिरङ्गं भवति—पा. २. पु.।

अथ तृतीयोंऽशः ।

अतः परं संयमसिद्धयो वक्तव्याः। सिद्धिकामानां ज्ञानादिप्रतिबन्धकतृष्णोपशमाय तत्तत्संयमनिष्पत्त्यवधारणाय च, तथा मुमुक्षूणां हेयत्वप्रतिपादनाय । तथा च सर्वसिद्धान्ते सूत्रम् 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (यो. ३. ५०.) इति ।

अत्र विषयभेदेन अनन्तानां संयमानामनन्ताः सिद्धयः। तासु कियत्य एव सूत्रभाष्याभ्यामुक्ताः। अस्माभिस्तु

तृतीय अंश

संयमसिद्धियाँ

अब आगे संयमसे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन करना है। जो सिद्धियोंकी इच्छावाले हैं उनके ज्ञानादि की प्रतिबन्धक तृष्णाकी निवृत्तिके लिए, अमुक संयम के द्वारा अमुक सिद्धि निष्पन्न होती है— इसका निश्चय करनेके लिए तथा मुमुक्षुओंके लिए ये सिद्धियाँ त्याज्य हैं—ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए इनका वर्णन किया जाता है। सबके सिद्धान्तानुसार ऐसा ही यह सूत्र भी है—'उन सिद्धियोंसे भी वैराग्य होनेपर दोषके बीजका क्षय हो जानेसे कैवल्य प्राप्त होता है।'

यहाँ विषयोंका भेद होने पर अनन्त संयमोंके द्वारा अनन्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। उनमेंसे कुछका ही सूत्र और भाष्य द्वारा वर्णन

ग्रन्थबाहुल्यभिया ताभ्योऽपि समुद्धृत्य सारतरा एव सिद्धय उच्यन्ते । तत्र संयमविषयसाक्षात्कारा एव संयमसिद्धितयाऽत्र कथ्यन्ते। संयमानां स्वस्वविषयसाक्षात्कार-हेतुतायाः सामान्यत एव लब्धत्वात् 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः' (यो. १. ४१) इति सूत्रेण, तथा 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (यो. ३. २६.) इत्यादिसूत्रेष्वन्यविषयकसंयमसिद्धितयाऽन्यज्ञानादेः कथनाच्च। किं तु स्वविषयसाक्षात्कारपर्यन्तस्य संयमस्य विषयान्तर-ज्ञानादिरेव सिद्धितया कथ्यत इति मन्तव्यम् । अन्यविषयक-संयमस्य प्रतिनियतान्यपदार्थज्ञानादिकं योगजधर्मद्वारा भवति, यज्ञविशेषात्स्वर्गविशेषवदिति ।

किया गया है। हम तो ग्रन्थविस्तारके भयसे उनमेंसे भी छाँटकर केवल अत्यन्त सारभूत सिद्धियोंका ही वर्णन करेंगे। वास्तवमें तो संयमके विषयोंके साक्षात्कार ही यहाँ संयमकी सिद्धियोंके रूपमें कहे गये हैं। संयम अपने-अपने विषयके साक्षात्कारके हेतु हैं—यह बात तो सामान्यतः इस सूत्रसे ही प्राप्त है—'जिसकी चित्तवृत्ति क्षीण हो गयी है उस योगीको स्वच्छ मणिके समान ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यमें तत्स्थ एवं तदञ्जनतारूप समापत्ति प्राप्त होती है।' इसके सिवा 'सूर्यमें संयम करनेसे सम्पूर्ण भुवनोंका ज्ञान हो जाता है' इत्यादि सूत्रोंमें अन्य विषयमें संयम करनेसे अन्य वस्तुके ज्ञानादिका भी वर्णन किया है। तथापि समझना यह चाहिये कि अपने विषयका साक्षात्कार होनेतक किये जानेवाले संयमसे जो विषयान्तरके ज्ञानादि होते हैं वे ही उसकी सिद्धिरूपसे कहे जाते हैं। अन्य विषयक संयमसे उस प्रतिनियत अन्य वस्तुके ज्ञानादि तो योगज धर्मद्वारा हुआ करते हैं, जैसे किसी विशेष यज्ञसे किसी विशेष स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

तत्र यस्मात्संयमादात्मसाक्षात्काररूपा सिद्धिर्भवति तदुभयमेवाभ्यर्हितत्वादादावुच्यते । तत्र सूत्रम्—'सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्' (यो. ३. ३५.) इति । भोगमध्ये बौद्धप्रत्ययविवेकेन पौरुषप्रत्यये संयमः कर्तव्य इत्याशयेन भोगोऽप्यत्र लक्ष्यते । तथा चायमर्थः । सत्त्वमुपाधिः कार्यकारणसाधारणः । पुरुषस्तद्वति साक्षी जीवेश्वरसाधारणः । तयोरत्यन्तासंकीर्णयोस्तमःप्रकाशवदत्यन्तविधर्मणोरपि यः परस्पर[1]प्रतिबिम्बवशात्प्रत्ययाविशेषः प्रत्यययोर्विवेकाग्रहणमेकत्व-

आत्मसाक्षात्कार करानेवाला संयम

अब, जिस संयमके द्वारा आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि होती है, वह [संयम और सिद्धि] दोनों ही विशेष महत्त्वशाली होनेके कारण, पहले उसीका वर्णन किया जाता है। इस विषयमें यह सूत्र है—'प्रकृति और पुरुष, जो सर्वथा असंकीर्ण (बिना मिले हुए) हैं उनका अभेदज्ञान ही भोग (भोगका कारण) है; प्रकृति परार्थ है, अतः उसे छोड़कर स्वार्थ (अपने स्वरूपभूत तत्त्व) में संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान हो जाता है।' भोगके बीचमें भी बुद्धिजनित प्रतीतिसे पृथक् करके पुरुषसम्बन्धी ज्ञानमें ही संयम करना चाहिये—इसी अभिप्रायसे यहाँ भोगको भी लक्षित कराया जाता है। इस प्रकार इसका तात्पर्य यह है—सत्त्व (प्रकृति) कार्य और कारणरूपमें समानभावसे रहनेवाली उपाधि है तथा पुरुष उस उपाधिसे युक्तमें साक्षी है, जो जीव और ईश्वरमें समान रूपसे स्थित है। उन अत्यन्त असंकीर्ण—अन्धकार और प्रकाशके समान अत्यन्त विरुद्ध धर्मवालोंमें भी प्रतिबिम्बके कारण जो प्रत्ययाविशेष अर्थात् प्रत्ययोंके पार्थक्यका अग्रहण अथवा एकत्वका भ्रम है,

---

१ प्रतिबन्धकवशात्—पा. १. पु. ।

भ्रमो वा शब्दाद्याकारवृत्तिरेव ज्ञानमित्येवं तप्तायःपिण्डवदेकतावृत्तिरूपः, स भोगो मुख्य इति विशेषः। तथा च भाष्यम्—'इष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोग' इति। तयोः प्रत्यययोर्मध्ये संहत्यकारित्वात्परार्थो यः शब्दाद्याकार उपाधिसत्त्वस्य प्रत्ययस्तस्माद्भेदेन स्वार्थे ज्ञानरूपे पुरुषस्य प्रत्यये संयमात्तदुभयविवेकसाक्षात्कारपर्यन्तात्पुरुषज्ञानं कूटस्थविभुनित्यशुद्धमुक्तत्वादिनाऽऽत्मसाक्षात्कारो[1]भवति। अखिलप्रपञ्चात्पुरुषस्य विवेकोऽनुभूयत इति यावत्। अत्र परार्थत्वं स्वार्थत्वं च प्रत्यययोर्विवेकहेतुविधयोपन्यस्यते। तत्र परार्थत्वं परमात्रस्य भोगापवर्गसाधनत्वम्। स्वार्थत्वं स्वभोगापवर्गसाधनत्वम्। अत्र तु भोगो विषयानुभवमात्रमिति।

और जो 'शब्दादि विषयाकार वृत्ति ही ज्ञान है' इसके समान एवं तपाये हुए लोहपिंडमें अग्नि और लोहेकी एकतावृत्तिरूप भ्रमके समान है, वही विशेषरूपसे मुख्य भोग है। ऐसा ही भाष्यमें कहा है—'इष्ट, अनिष्ट और अविविक्त गुणोंके स्वरूपका निश्चय ही भोग है।' उन प्रत्ययोंमें जो शब्दाद्याकार उपाधिरूप सत्वका प्रत्यय है वह परस्पर मिलकर प्रवृत्त होनेके कारण परार्थ है। उससे पृथक् करके स्वार्थमें अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुषके प्रत्ययमें उन दोनोंके विवेकसाक्षात्कारपर्यन्त संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान अर्थात् कूटस्थ, विभु, नित्य, शुद्ध, मुक्त आदि रूपसे आत्माका साक्षात्कार होता है। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण प्रपञ्चसे पुरुषके पार्थक्यका अनुभव हो जाता है। यहाँ परार्थत्व और स्वार्थत्वका प्रकृति और पुरुषके प्रत्ययोंके पार्थक्यमें हेतुरूपसे उल्लेख किया है। इनमें परमात्र (अपनेसे भिन्नमात्र) के भोग और मोक्षकी साधनता परार्थता है तथा अपने ही भोग और मोक्षकी साधनतामें स्वार्थता है। यहाँ विषयोंका अनुभवमात्र ही 'भोग' समझना चाहिये।

---

१ कूटस्थशुद्धबुद्धमुक्तत्वादिनास्य साक्षात्कारो—पा. २. पु.।

ननु पौरुषेयप्रत्ययः पुरुषस्य स्वरूपमेव; अतः कथं तस्मात्साक्षात्कार[1]पर्यन्तस्य संयमस्य पुरुषज्ञानं फलं स्यात् तस्य प्रागेव सिद्धत्वादिति चेत्

न, घटाकाशवच्छब्दादिवृत्त्यवच्छिन्नचिदाकाशभागस्य वृत्तिविवेकेन साक्षात्कारात्; परिपूर्णत्वादिरूपैरखिलप्रपञ्चविवेकेन च तत्साक्षात्कारस्य सिद्धिरूपस्य भिन्नत्वादिति दिक्।

तमिमं संयमं विहायात्मसाक्षात्कारस्यान्य उपायो नास्ति। अत आत्मजिज्ञासुभिरयमेव संयमः संयमान्तराण्यणिमादिसिद्धिहेतुभूतानि विहाय कर्तव्य इति सांख्ययोगयो रहस्यं स्वानुभवसिद्धमुपदिष्टम्। एतस्मिंश्च संयमे

प्रश्न—पौरुष प्रत्यय तो पुरुषका स्वरूप ही है, अतः साक्षात्कारपर्यन्त उस पौरुषप्रत्ययके संयमका फल पुरुषका ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि वह तो पहले ही से विद्यमान है।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार घटसे अवच्छिन्न आकाशका साक्षात्कार घटसे विवेक करनेपर होता है उसी प्रकार शब्दादिवृत्तियोंसे अवच्छिन्न चिदाकाशके भागका साक्षात्कार वृत्तियोंसे विवेक करनेपर होता है। और सम्पूर्ण प्रपञ्चका विवेक करनेपर परिपूर्णत्वादिरूपसे होनेवाला सिद्धिरूप जो परमात्माका साक्षात्कार है वह इससे भिन्न है—यह यहाँ दिखाया गया है।

इस संयम को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार का कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतः आत्मजिज्ञासुओंको अणिमादि सिद्धियों के हेतुभूत अन्य संयमों को छोड़कर केवल यही संयम करना चाहिये। इस प्रकार यह अपने अनुभव से सिद्ध सांख्य और योग के रहस्य का उपदेश किया गया है। इस संयम के करने पर पुरुषज्ञानकी चिह्नस्वरूपा प्रातिभ, श्रावण,

---

1 तत्साक्षात्कार—पा. २. पु.।

क्रियमाणे, अन्या अपि सिद्धयः पुरुषज्ञानस्य लिङ्गभूता आदौ जायन्ते प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवात[1]संज्ञकाः।

तत्र दृष्टकारणं विनैव अकस्माद्व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्माद्यर्थस्फुरणसामर्थ्यं प्रतिभा, तज्जन्यं ज्ञानं प्रातिभं मनसः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिश्रवणं[2] श्रावणं श्रोत्रस्य सिद्धिः। तथा व्यवहितादिस्पर्शनं वेदनं त्वगिन्द्रियस्य सिद्धिः। तथा व्यवहितादिदर्शनमादर्शश्चक्षुषः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिरसग्रहणमास्वादो रसनायाः सिद्धिः। तथा व्यहितादिगन्धग्रहणं वातो[3] घ्राणस्य सिद्धिरिति। एताः षडिन्द्रियस्य षट् सिद्धयः पुरुषसाक्षात्कारहेतोः प्रत्ययसमाधेरुपसर्गा

वेदन, आदर्श, आस्वाद और वात संज्ञक दूसरी सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

सो, दृष्ट कारण के विना ही अकस्मात् व्यवहित (ओट में स्थित) विप्रकृष्ट (दूरवर्ती), भूत, भविष्यत् और सूक्ष्म वस्तुओं के स्फुरणकी सामर्थ्यका नाम प्रतिभा है, उससे होनेवाला ज्ञान ही प्रातिभ नामकी मानस सिद्धि है। इसी प्रकार व्यवहित आदि शब्दों को सुन लेना ही श्रावण नामकी श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि है। तथा व्यवहित आदि वस्तुओं का स्पर्श करलेना त्वक् इन्द्रिय की वेदन नामकी सिद्धि है। व्यवहितादि वस्तुओं को देखलेना यह चक्षु इन्द्रियकी आदर्श नामकी सिद्धि है। व्यवहितादि रसोंको ग्रहण करलेना रसनाकी आस्वाद नामकी सिद्धि है। और व्यवहितादि गन्धोंको ग्रहण कर लेना ही घ्राणेन्द्रिय की वात नाम की सिद्धि है। ये, छः इन्द्रियों की छः सिद्धियाँ पुरुषके साक्षात्कारके हेतुभूत ज्ञानसमाधि की उपसर्ग अर्थात् विघ्न हैं,

---

१ वार्ता—पा. २ पु.। २ व्यवहितश्रवणं—पा. १ पु.।
३ वार्ता—पा. २ पु.

अन्तरायाः। विषयभोगतः समाधिभ्रंशाद् व्युत्थितचित्तस्य बहिर्मुखस्य दृष्ट्यैव तु सिद्धयः पुरुषार्थसिद्धिरूपा उच्यन्ते 'ते समाधावुपसर्गा[1] व्युत्थाने सिद्धयः (यो.३.३७.) इति सूत्रात्। अत एता अत्मजिज्ञासुभिर्न कामनीयाः, कदाचिदकामत उपस्थिता अप्युपेक्षणीया इति।

इत्यात्मज्ञानरूपसिद्धिहेतोः संयमस्य कथनम्।

इतः परं वितर्कविचारानन्दास्मितानुगतसंप्रज्ञातानां हेतवो ये ग्रहीतृ[2]ग्रहणग्राह्येषु संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः। तत्र ग्राह्यग्रहणग्रहीतृक्रमेणैवोत्सर्गतः संयमोत्पादात्प्रथमं ग्राह्यसंयमस्य सिद्धिरुच्यते। ग्राह्याणि भूतानि। तानि च कार्यकारणाभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि

क्योंकि विषय भोग के द्वारा ये समाधि को खण्डित कर देती हैं। अतः जो व्युत्थितचित्त या बहिर्मुख है उसी की दृष्टि से ये पुरुषार्थ की प्राप्तिरूपा सिद्धियाँ कही जाती हैं, जैसा कि 'ये समाधि में विघ्न किन्तु व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं' इस सूत्र से प्रकट होता है। अतः आत्मजिज्ञासुओं को इनकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये अर्थात् न चाहने पर भी यदि ये आ जायँ तो इनकी उपेक्षा ही करनी चाहिये।

इस प्रकार आत्मज्ञान के हेतुभूत संयम का वर्णन हुआ।

ग्राह्यसंयमजनित सिद्धियाँ

अब आगे वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता में अनुगत सम्प्रज्ञात समाधियों के हेतुभूत जो ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्योंमें होनेवाले संयम और उनकी सिद्धियाँ हैं उनका वर्णन किया जाता है। इनमें भी स्वभाव से ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता के क्रमसे ही संयम होता है, अतः पहले ग्राह्यसंयमसे होनेवाली सिद्धि का वर्णन किया जाता है। ग्राह्य हैं भूत और वे कार्य-कारण तथा धर्म-धर्मीका अभेद होने से

---

१ ताः—इत्यधिकम् २ पु.। २ गृहीतृ—पा. २. पु. प्रामादिकः।

भवन्ति। रूपाणि च स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि। तत्र शब्दादयो विशेषा आकाशादयश्च भूतानां स्थूलं रूपम्। आकाशत्ववायुत्वादिसामान्यपञ्चकं च भूतानां स्वरूपाख्यं रूपम्। शब्दादितन्मात्रपञ्चकं तु सूक्ष्मं रूपम्। अनुगच्छतीत्यन्वयः; सत्त्वादिगुणत्रयात्मिका प्रकृतिरन्वयाख्यंरूपम्। गुणगतः पुरुषार्थो भोगापवर्गरूपोऽर्थवत्त्वाख्यं[1] रूपमिति।

एतद्रूपपञ्चकसंघातरूपेषु भूतेष्वेतैः पञ्चरूपैः संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्तैरेव रूपैर्भूतजयरूपा सिद्धिर्भवति। 'स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः' (यो. ३. ४४.) इति सूत्रात्। जयश्च वशवर्तित्वं स्वेच्छानुसारतः प्रवर्तनम्। यद्यप्यहंकारबुद्धी अपि भूतकारणत्वेन भूतानुगततया भूतानां रूपं भवतः, तथापि

पाँच रूपोंवाले हैं। वे रूप हैं—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व। इनमें शब्दादि विशेष और आकाशादि भूत—ये भूतोंके स्थूल रूप हैं। आकाशत्व, वायुत्व आदि पाँच सामान्य भूतों का स्वरूपसंज्ञक रूप हैं। शब्दादि पाँच तन्मात्र भूतों का सूक्ष्म रूप हैं। जो अनुगमन करे उसे अन्वय कहते हैं, अतः सत्त्वादि तीन गुणोंवाली प्रकृति अन्वय नामका रूप है। तथा गुणों में जो भोग और मोक्षरूप पुरुष का प्रयोजन है वह अर्थवत्व-संज्ञक रूप है।

इन पाँच रूपोंके संघातभूत भूतोंमें इन पाँच रूपों द्वारा साक्षात्कार-पर्यन्त संयम करने से उन रूपों के द्वारा ही भूतजयरूपा सिद्धि होती है, जैसा कि 'स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्वमें संयम करने से भूतजय होता है' इस सूत्र से प्रकट होता है। 'जय' का अर्थ है वशवर्ती होजाना अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृत्त कर सकना। यद्यपि भूतों के कारण और भूतों में अनुगत होने के कारण अहङ्कार और बुद्धि (महत्तत्व) भी भूतों के ही रूप हैं, तथापि यज्ञादि के

1 रूपार्थवत्त्व—पा. २ पु.।

यज्ञादिफलवत्संयमसिद्धेर्वाचनिकतया भूतेषु बुद्ध्यहंकाररूपाभ्यां संयमस्य न तदुभयजयः फलमित्याशयेन तदुभयरूपसंयमो भूतेषु नोक्तः। इन्द्रियेषु वक्ष्यते।

ततश्च भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपद् भूतधर्मानभिघातश्चेत्येतत्सिद्धित्रयं भवति।

तत्राणिमाद्या अष्टौ सिद्धयः स्मृतिषु परिगणिताः—

"अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता।
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति॥" इति।

तत्र स्वेच्छयाऽणुपरिमितशरीरो भवतीत्यणिमा। एवं महिमा। लघिमा तु गुरुतरशरीरोऽपि तूलादिवल्लघुर्भवति

फलों के समान संयमजनित सिद्धियाँ भी शब्द प्रमाण पर ही अवलम्बित हैं और भूतों में बुद्धि और अहङ्कारमें संयम करनेसे इन दोनों का जयरूप फल बताया नहीं गया। इसी आशय से भूतोंमें इन दो रूपों के संयम का भी उल्लेख शास्त्रोंमें नहीं हुआ। हाँ इन्द्रियों में अवश्य बतलाया जायगा।

फिर भूतजय होने पर अणिमादिका प्रादुर्भाव, कायसम्पद् और भूतोंके धर्मों से उपहत न होना—ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इनमें अणिमादि आठ सिद्धियोंकी गणना स्मृतियोंमें इस प्रकार करायी है (१) अणिमा, (२) महिमा और (३) लघिमामें शरीरकी सिद्धियाँ हैं। (४) प्राप्ति इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली सिद्धि है। तथा शेष सिद्धियाँ हैं—(५) प्राकाम्य—श्रुत और दृष्ट पदार्थोंमें स्वच्छन्द गति होना, (६) ईशिता–शक्ति प्रेरित करना, (७) वशिता—गुणोंमें आसक्त न होना, और (८) कामावसायिता।

स्वेच्छासे अणुके समान शरीर हो जाना अणिमा सिद्धि है। इसी प्रकार शरीरका अत्यन्त महान् हो जाना महिमा है। बहुत भारी शरीर भी यदि रूईके समान हल्का हो जाय, जिससे कि आकाशमें

येनाकाशादिषु संचरति। इन्द्रियैः प्राप्तिस्तु भूमिष्ठ एव अङ्गुल्या चन्द्रमसं स्पृशतीत्यादिरूपा। प्राकाम्यं च श्रुतदृष्टेषु स्वर्गादिषु जलादिषु च गत्यप्रतिबन्धः। ईशिता च शक्तीनां भूतभौतिकानां स्वेच्छया प्रेरणम्। वशिता भूतभौतिकानां शक्तिप्रतिबन्धसामर्थ्यं स्वस्य च तदवशत्वम्[1]। यत्र कामावसायित्वसंज्ञा त्वष्टमी[2] सिद्धिः, विषस्यापि स्वेच्छयाऽमृतीकरणसामर्थ्यममृतस्यापि विषीकरणसामर्थ्यमित्यादिरूपा। इत्यणिमाद्यष्टसिद्धयो व्याख्याताः[3]।

कायसंपच्च रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि।

भूतधर्मानभिघातस्तु पृथिव्यादिधर्मैः काठिन्यादिभिर्योगिशरीरस्य गत्याद्यप्रतिघातः। तद्यथा—पृथिवी काठिन्येन

भी विचरने लगे तो इसे लघिमा सिद्धि कहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्ति सिद्धि ऐसी है कि पृथ्वीपर रहते हुए ही योगी अङ्गुलियोंसे चन्द्रमा को स्पर्श कर ले। स्वर्गादि श्रुत और जल आदि दृष्ट स्थानोंमें गति न रुकना—यह प्राकाम्यसिद्धि है। भूत और भौतिक पदार्थोंकी शक्तियोंको अपनी इच्छासे प्रेरित करना ईशिता है। भूत और भौतिक पदार्थोंकी शक्तियोंको रोक देनेका सामर्थ्य और स्वयं उनके अधीन न होना वशिता सिद्धि है। कामावसायिता नामकी आठवीं सिद्धि है—यह अपनी इच्छासे विषको अमृतकर देनेकी और अमृतको विष बना देनेकी सामर्थ्यरूपा है। इस प्रकार अणिमादि आठ सिद्धियोंकी व्याख्या हुई।

रूप, लावण्य और वज्रके समान सुदृढ़ हो जाना—ये कायसम्पद् हैं।

पृथिवी आदिके जो कठिनता आदि धर्म हैं उनसे योगीके शरीरकी गति आदिका प्रतिबन्ध न होना—यह भूतोंके धर्मोंसे उपहत

---

१ अवश्यत्वम्–पा. २ पु. २ कामावसायित्वमष्टमी–पा. २ पु.।
३ अष्टसिद्धिव्याता–पा. २ पु.।

शरीरक्रियां न प्रतिबध्नाति येन पर्वतमपि भित्त्वा स्थूलशरीरं गच्छति, शिलामपि वाऽनुप्रविश्य तिष्ठति । तथा आपः स्निग्धाः शरीरं न क्लेदयन्ति । अग्निरुष्णो न दहति । वायुर्गतिशीलो न चालयति । आकाशमनावरकमप्यावृणोति[1] येन सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ।

इति ग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उक्ताः ।

ग्रहणसंयमस्योच्यन्ते । गृह्यन्त एभिरिति ग्रहणान्येकादशेन्द्रियाणि । तान्यपि कार्यकारणाभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि भवन्ति । रूपाणि च ग्रहणरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि ।

न होना है । तात्पर्य यह कि पृथिवी अपनी कठिनता से योगीके शरीर की क्रिया को नहीं रोक सकती, जिससे कि उसका स्थूल शरीर पर्वत को भी पार करके चला जाता है और शिलामें भी घुसकर बैठ जाता है । इसी प्रकार द्रवीभूत जल उसके शरीर को गीला नहीं करता, उष्णस्वभाव अग्नि दग्ध नहीं करता, गतिशील वायु चलायमान नहीं करता और आवरक न होने पर भी आकाश उसका आवरण कर लेता है, जिससे कि वह सिद्धोंके लिये भी अदृश्य हो जाता है ।

यह ग्राह्यसंयम से होनेवाली सिद्धियों का वर्णन हुआ ।

ग्रहणसंयमजनित सिद्धियाँ

अब ग्रहण-संयमकी सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है । विषय इनके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं इसलिये ग्यारह इन्द्रियाँ ही ग्रहण हैं । वे भी कार्य-कारण और धर्म-धर्मीका अभेद होनेसे पाँच रूप हो जाती हैं । वे रूप ग्रहण, रूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामों वाले हैं ।

---

१ अथावृणोति—पा. १ पु. ।

'तत्रेन्द्रियाणां वृत्तयो ग्रहणम्। इन्द्रियाणि स्वरूपम्। अहंकारः अस्मिता। अत्रैव बुद्धेरप्यन्तर्भावः। अन्वयश्च पूर्ववद्गुणत्रयात्मिका प्रकृतिः। अर्थवत्त्वं तु पूर्ववत्। एतद्रूपपञ्चकसंघातरूपेष्विन्द्रियेषु एतैः पञ्चरूपैः संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादिन्द्रियजयरूपा सिद्धिर्भवति, 'ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः' (यो. ३. ४७.) इति सूत्रात्। ततश्च मनोजवित्वं[1] विकरणभावः प्रधानजयित्वं चेत्येतत्सिद्धित्रयं भवति। तत्र कायस्यानुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वं[2] येनोपासकादिभिः स्मृतमात्राः क्षणादेव सिद्धाः पुरो दृश्यन्ते। स्थूलदेहनैरपेक्ष्येणैवेन्द्रियाणां यथेच्छं व्यवहितादिसाधारणार्थेषु वृत्तिलाभो विकरणभावः। इन्द्रियाणां सर्वत्र विकीर्णतेति यावत्। सर्वप्रकृतीनां तद्विकाराणां च वशित्वं स्वेच्छया

इन्द्रियों की जो वृत्तियाँ हैं वे ग्रहण हैं, इन्द्रियाँ स्वरूप हैं और अहंकार अस्मिता है। इसीमें बुद्धिका भी अन्तर्भाव हो जाता है। पहले जैसे कहा जा चुका है त्रिगुणात्मिका प्रकृति अन्वय है और अर्थवत्त्व भी पहले ही की तरह समझना चाहिये। इस रूपपञ्चकके संघातस्वरूप इन्द्रियोंमें इन पाँच रूपोंके द्वारा साक्षात्कारपर्यन्त संयम करनेसे इन्द्रियजयरूपा सिद्धि होती है' जैसा कि 'ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व में संयम करने से इन्द्रियजय होता है' इस सूत्रसे कहा गया है। ऐसा होनेपर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजयित्व ये तीन सिद्धियाँ होती हैं। शरीरको सर्वोत्तम गति प्राप्त हो जाना मनोजवित्व है, जिससे कि उपासकादि के द्वारा स्मरण किये जाते ही क्षणमात्रमें सिद्धगण उनके सामने दिखाई देने लगते हैं। स्थूलदेहके विना ही व्यवहितादि सामान्य विषयोंमें इच्छानुसार इन्द्रियोंकी वृत्ति हो जाना विकरणभाव है। अर्थात् इन्द्रियोंकी सर्वत्र विकीर्णता—व्यापक वृत्ति हो जाना। सभी प्रकृति (कारण) और उनके विकारों (कार्यों) की वशिता—इच्छानुसार

---

१ मनोजयित्वं—पा. २ पु.। २ मनोजयित्वं—पा. २ पु.।

प्रेरणसामर्थ्यं[1] प्रकृतिजय इति। एताश्च पञ्चरूपैरिन्द्रियसंयमस्य तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते।

इति ग्रहणसंयमस्य सिद्धय उक्ताः।

अथ ग्रहीतृसंयमस्योच्यन्ते। ग्रहीतुः कार्यकारणविलक्षणत्वान्निर्धर्मत्वाच्च रूपभेदो नास्ति। ग्रहीतरि पुरुषसामान्ये उपाधिसत्त्वाद्भेदेन संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च भवति, 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं[2] च' (यो. ३. ४९.) इति सूत्रात्। इयं च सिद्धिः सर्वकामावाप्त्याऽखिलशोकरहितत्वाद्विशोकेत्युच्यते। तत्र परमेश्वरवत्स्वे-

उन्हें प्रेरित करनेका सामर्थ्य प्रकृतिजय है। ये पञ्चरूपोंके द्वारा जो इन्द्रियोंकी तीन सिद्धियाँ हैं वे 'मधुप्रतीका' कही जाती है।

यह ग्रहणसंयमसम्बन्धी सिद्धियोंका वर्णन किया गया।

गृहीतृसंयमजनित सिद्धियाँ

अब गृहीतृसंयमकी सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है। ग्रहीता कार्यकारणसे विलक्षण है और उसका कोई धर्म भी नहीं है, इसलिये उसमें रूपभेद नहीं है। ग्रहीता अर्थात् पुरुषसामान्यमें, उपाधिकी सत्तासे भेददृष्टि रखते हुए, उसका साक्षात्कार होनेतक संयम करनेसे सम्पूर्ण भावोंका अधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है, यह बात 'प्रकृति और पुरुषका विवेकज्ञान होनेसे ही सम्पूर्ण भावोंका अधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है' इस सूत्रसे विदित होती है। सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति और सम्पूर्ण शोककी निवृत्ति हो जानेके कारण यह सिद्धि विशोका कही जाती है। परमेश्वर के समान

१ प्रेरणा सामर्थ्यं—पा. २ पु.।

२ ज्ञातृत्वमिति भाष्यसंमतः—पा. १ पु.।

च्छया सर्ववस्तुप्रेरणसामर्थ्यं सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्, प्रकृतिपुरुषादिषु अप्रतिहतेच्छत्वमिति यावत्। सर्वज्ञत्वं[1] तु वक्ष्यमाणम्। तदेव च सार्वज्ञ्यं विवेकजं ज्ञानं तारकमित्युच्यते,सत्त्वपुरुषविवेकसंयमजन्यत्वात्संसारतारकत्वाच्च। तच्च सार्वज्ञ्यं सूत्रेण लक्षितम्—'तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्' (यो. ३. ५४.) इति। तथा विष्णुपुराणेऽपि लक्षितम्—

"अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम्।
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे[2] विवेकजम्॥" इति।

पूर्वं परार्थप्रत्ययाद्भेदेन स्वार्थप्रत्यये संयमस्य तत्साक्षात्कारपर्यन्तस्य पुरुषसाक्षात्काररूपा सिद्धिरुक्ता। अत्र तु बुद्धिसत्त्वाद्भेदेन पुरुषे संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारपर्यन्तस्य सार्वज्ञ्यादिसिद्धि-

अपनी इच्छामात्रसे सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रेरित करनेका सामर्थ्य सम्पूर्ण भावोंका अधिष्ठातृत्व है अर्थात् प्रकृति और पुरुष आदिमें अप्रतिहत इच्छा प्राप्त हो जाना। सर्वज्ञताका वर्णन आगे किया जायगा। यह सर्वज्ञता ही विवेकज ज्ञान है, जो 'तारक' कहा जाता है, क्योंकि यह प्रकृति और पुरुषके विवेकमें संयम करनेसे उत्पन्न होनेवाला और संसारसे तारनेवाला है। उस सर्वज्ञताका ही इस सूत्रद्वारा लक्षण किया गया है—'यह तारक ज्ञान विवेकजनित है तथा सबको विषय करनेवाला, सर्वथा अविषय (किसीका भी विषय न होनेवाला) और क्रमशून्य है' तथा विष्णुपुराणमें भी इसका ऐसा लक्षण किया है—'अज्ञान घोर अन्धकार के समान है, इन्द्रियजनित ज्ञान दीपकके सदृश है, और हे ब्रह्मर्षे! यह जो विवेकज ज्ञान है वह सूर्यके समान है।'

परार्थ प्रत्ययसे पृथक् करके स्वार्थप्रत्ययमें उसके साक्षात्कारपर्यन्त संयम करनेसे पुरुषसाक्षात्काररूपा सिद्धि होती है—इसका पहले वर्णन किया गया है; किन्तु यहाँ बुद्धिसत्वसे पृथक् करके पुरुषसाक्षात्कारपर्यन्त

---

१ सार्वज्ञ्यं—पा. २ पु.। २ विमर्षे—पा. १ पु.।

रुच्यत इति भेदः। तदिदं ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिद्वयमुक्त्वा सूत्रकारेण तस्यैवान्या सर्वसिद्धिमूर्धन्या परमा सिद्धिरुक्ताऽस्ति—'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (यो. ३. ५०.) इति। अस्यायमर्थः। क्लेशकर्मरूपाणां दोषाणां संसारबीजानामात्मज्ञानेन निःशेषतः क्षये सति तयोः सिद्ध्योरपि वैराग्यमलंप्रत्ययो जायते; तस्माद्वैराग्यात्कैवल्यरूपा सिद्धिरिति। तदुक्तं मोक्षधर्मे—

"वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः।
ज्ञानादेव तु वैराग्यं जायते येन मुच्यते॥" इति।

यदि च ज्ञानस्यापरिपाकात्सार्वज्ञ्यादिरागस्तिष्ठति तर्हि संयमस्योक्तसिद्धिद्वयं कैवल्याख्यसिद्ध्यन्तरायो भवतीत्याशयः।

तदेवं मुख्यसंयमानां सिद्धय उक्ताः। यथा च सर्वज्ञत्व-पुरुषमें संयम करनेसे सर्वज्ञतादि की सिद्धि बतायी गयी है—यही इन दोनों का भेद है। इस प्रकार ग्रहीतृसंयमकी ये दो सिद्धियाँ बतलाकर सूत्रकारने उसी संयमकी सम्पूर्ण सिद्धियोंमें शिरमौर एक अन्य परम सिद्धि बतलायी है—'उसमें भी वैराग्य हो जानेसे दोषोंके बीजका क्षय हो जाने पर कैवल्य होता है'। इस सूत्रका तात्पर्य यह है—संसारके बीजभूत क्लेश और कर्मरूप दोषोंका आत्मज्ञानसे सर्वथा क्षय हो जाने पर उन दोनों सिद्धियोंमें वैराग्य—अलंप्रत्यय हो जाता है और उस वैराग्यसे कैवल्यरूपा सिद्धि होती है। मोक्षधर्ममें भी ऐसा कहा है—'इस मोक्षकी सर्वश्रेष्ठ विधि वैराग्य ही है और वैराग्य ज्ञानसे ही होता है, जिससे कि फिर मुक्ति हो जाती है'। तात्पर्य यह कि यदि ज्ञानकी परिपक्वता न होनेसे सर्वज्ञता आदिका राग रहता है तो इस संयमकी उपर्युक्त दोनों सिद्धियाँ कैवल्यसंज्ञक सिद्धि की विघ्न हो जाती है।

सिद्धिका प्रकार

इस प्रकार प्रधान संयमोंकी सिद्धियोंका वर्णन किया गया, तथा

पर्यन्तसिद्धिज्ञानं विनाऽपि मोक्षो भवति तथा प्रागेवोक्तम्। इदानीं सिद्धिप्रकारः कथ्यते। यदा मनुष्यादिशरीरेणैव देवभावं प्राप्नोति, यदा वाऽणिमादिसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, तदा किं संकल्प-योगजधर्माभ्यामतिरिक्तं कारणमपेक्षते न वेति संशये निर्णय-सूत्रम्—'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्' (यो. ४. २.) इति। अस्यायमर्थः। मनुष्यादिशरीरस्य देवादिजात्यन्तररूपः परिणामः सत्त्वादिविशेषरूपाणां देवादिशरीरारम्भयोग्यानामापूरादेव भवति। तत्र चापूरणेऽधर्मादिप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा योगिसंकल्प-योगजधर्मादिकं निमित्तमात्रं; न तु प्रकृतिप्रेरकं भवति, प्रकृतीनां स्वत एव सर्वपरिणामसामर्थ्यात्। अतो न प्रकृतिस्वातन्त्र्यक्षतिः।

जिस प्रकार सर्वज्ञत्वपर्यन्त सिद्धियोंके ज्ञान के बिना भी मोक्ष हो सकता है वह बात भी पहले ही बतला दी गयी है। अब सिद्धिप्राप्तिके प्रकारका वर्णन किया जाता है। जब योगी मनुष्यादि शरीरसे ही देवभाव प्राप्त कर लेता है और जब उसमें अणिमादि सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं तब उसे संकल्प और योगजनित धर्मोंसे अतिरिक्त अन्य कारणकी अपेक्षा होती है या नहीं—ऐसा सन्देह होनेपर निर्णय करनेवाला यह सूत्र है—'प्रकृतिके द्वारा पूर्ति की जानेपर वस्तुका एक जातिसे दूसरी जातिमें परिणाम होता है।' इस सूत्रका तात्पर्य यह है—मनुष्यादि शरीरका देवादि अन्य जातिरूप परिणाम देवादि शरीरका आरम्भ करनेयोग्य सत्त्वादि विशेष रूपोंकी पूर्त्ति होनेपर ही होता है। उस पूर्त्तिमें अधर्मादि प्रतिबन्धकी निवृत्तिद्वारा योगीके संकल्पज और योगज धर्मादि तो निमित्तमात्र ही हैं, वे प्रकृत्तिके प्रेरक नहीं होते, क्योंकि प्रकृतियाँ तो स्वयं ही सब प्रकारके परिणाममें समर्थ हैं। अतः इससे प्रकृतिकी (उपादान कारण) की स्वतन्त्रतामें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती। ऐसा ही यह सूत्र भी है—'निमित्त

तथा च सूत्रम्—'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' (यो. ४. ३.) इति ।

अत्र प्रकृत्यापूरेण प्रकृत्यपसारणमुपलक्ष्यते । जात्यन्तरपरिणामेन च अणिममहिमाद्या अपि सिद्धय उपलक्ष्यन्ते । तेन यथायोग्यं प्रकृत्यापूरणापसारणाभ्यां सर्वाः सिद्धय उत्पद्यन्ते । एतेन वामननृसिंहवराहादीनां क्षणेन प्रकृत्यापूरणादेव शरीरवृद्धिः । अगस्त्यादिपीयमानसमुद्रादेश्चाल्पत्वं प्रकृत्यपसरणादुपपन्नमिति । कायव्यूहादिकं तु देहान्तरादिप्रकृतीनां पृथगेवारम्भकसंयोगाद्भवतीति विशेषः ।

ननु यदा योगी कायव्यूहं करोति तदा किं तत्तद्देहप्रतिनियतानि चित्तानि चित्तप्रकृतितो निर्मिमीते किं वा एकेनैव निर्मातृचित्तेन सर्वाणि शरीराण्यधितिष्ठतीति संशये निर्णय-

कारण प्रकृतियों (उपादानकारणों) का प्रयोजक (कार्योन्मुख करनेवाला) नहीं है, वह तो किसानकी तरह उसके आवरणको हटाता है ।'

यहाँ प्रकृतिके द्वारा होनेवाली पूर्त्तिसे प्रकृतिका अपसरण भी उपलक्षित होता है तथा अन्य जातिमें परिणत होनेसे अणिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ भी सूचित हो जाती हैं । इन प्रकृतिके द्वारा होनेवाली पूर्त्ति और प्रकृतिके अपसरणसे ही सारी सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं । इस प्रकृत्यापूरसे ही क्षणमात्र में वामन, नृसिंह और वराह आदिके शरीरोंकी वृद्धि हुई थी तथा अगस्त्यादिके द्वारा पिये जाते हुए समुद्रादिकी अल्पता भी प्रकृतिके अपसरणसे ही उपपन्न हुई थी । किन्तु कायव्यूहादि (एक ही योगीके अनेक शरीर) तो देहान्तरोंकी प्रकृतियोंके विभिन्न आरम्भक संयोगोंसे ही होते हैं—इतनी यहाँ विशेषता है ।

योगी जब अनेक शरीर धारण करता है तो उन विभिन्न शरीरोंमें रहनेवाले चित्तोंको वह अपने चित्तकी प्रकृतिसे बनाता है अथवा उस एकही निर्माता चित्तसे सम्पूर्ण शरीरोंमें अधिष्ठित हो जाता है ?

सूत्रम्—'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' (यो. ४. ४.) इति। अस्यायमर्थः। अस्मितामात्रमहंकारस्तस्मात्कारणाद्बहून्येव शरीर-प्रतिनियतानि मनांसि योगिसंकल्पाज्जायन्त इति। अन्यथा एकचित्तेन विरुद्धानां भोगसमाध्यादीनां नानादेहेष्वेकदा न संभवः। तथा श्रीरामरूपलीलाविग्रहे श्रीविष्णोः सर्वज्ञस्य निर्मातृचित्तेनाज्ञानस्वीकारश्च नोपपद्यत इति भावः। योगिनां नानाशरीरैर्विरुद्धनानाकार्यं तु स्मर्यते—

"प्राप्नोति विषयान्कश्चित्कश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
योगेश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च॥" इति।

सर्वेषां तु निर्माणचित्तानामेकमेव निर्मातृचित्तं प्रवृत्तिनि-वृत्त्योः प्रयोजकं भवति, 'प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्'

ऐसा संशय होनेपर इस प्रश्नका निर्णय करनेवाला यह सूत्र है—'वह अस्मितामात्रसे निर्माण (नूतन निर्मित शरीरोंमें रहनेवाले) चित्तोंको बना लेता है।' इस सूत्रका तात्पर्य यह है—अस्मितामात्र है अहंकार, उस अहंकाररूप कारणसे ही योगीके संकल्प द्वारा पृथक्-पृथक् शरीरोंमें रहनेवाले बहुत-से मन उत्पन्न हो जाते हैं। नहीं तो, एक ही चित्त द्वारा अनेकों शरीरोंमें भोग और समाधि आदि विरुद्ध धर्मोंका एक साथ अनुभव करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सर्वज्ञ श्रीविष्णु भगवान्का अपने निर्माता चित्तसे श्रीरामरूप लीलाविग्रहमें अज्ञान स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं हो सकता—ऐसा इसका भाव है। योगियोंके नाना शरीरों द्वारा विभिन्न विरोधी कर्मोंका स्मृतियोंमें इस प्रकार उल्लेख हुआ है—'योगीका कोई शरीर तो विषयोंको भोगता है और कोई बड़ी उग्र तपस्या करता है। इस प्रकार योगिराज अनेकों शरीरोंको बनाते-बिगाड़ते रहते हैं।'

योगीका एक ही निर्माता चित्त अपने अनेकों निर्माणचित्तों की प्रवृत्ति और निवृत्तियोंका प्रयोजक होता है। यह बात 'चित्तोंकी विभिन्न

(यो. ४. ५) इति सूत्रात्। कादाचित्कं त्वेकेनापि चित्तेन नाना-शरीराधिष्ठानमत्र न निराक्रियते योगिनां स्वतन्त्रेच्छत्वादिति[1]। एतेन हिरण्यगर्भादीनां जगत्सृष्ट्यादिरपि प्रकृत्यापूरादिना व्याख्याता। अत्र प्रकृत्यापूरेण जीवान्तराणां स्वस्वोपाधिसंयोगस्याप्युपलक्षणम्, येन योगी जीवान्तरसंयोगेन गजतुरगादीनि निर्मायैश्वर्यं भुङ्क्त इति।

यथा च[2] समाधिसिद्धयः प्रागुक्ता एवमेव जन्मादिसिद्धयोऽपि मन्तव्याः। विशेषस्त्वयं समाधिसंस्कृतं चित्तमेवात्मसाक्षात्कारद्वारा साक्षान्मोक्षहेतुर्न जन्मादिसिद्धमिति।

प्रवृत्तियाँ होने पर योगीका एक ही चित्त उन अनेकों चित्तोंका प्रयोजक होता है' इस सूत्रसे सिद्ध होती है। हम इस बात का निराकरण नहीं करते कि कभी-कभी योगी लोग एक चित्तके द्वारा भी विभिन्न शरीरोंमें अधिष्ठित हो सकते हैं, क्योंकि वे इच्छा करनेमें स्वतन्त्र हैं। इससे इस बातकी भी व्याख्या हो जाती है कि हिरण्यगर्भादिके जगत्सृष्टि आदि भी प्रकृत्यापूरसे हो जाते हैं। यहाँ प्रकृत्यापूरसे अन्यान्य जीवोंका अपनी-अपनी उपाधिसे संयोग होना भी उपलक्षित हो जाता है, जिससे कि योगी अन्य जीवोंके संयोग द्वारा हाथी-घोड़े आदिकी रचना करके ऐश्वर्यका भोग करता है।

पहले जिस प्रकार समाधिजनित सिद्धियोंका वर्णन किया गया है वैसे ही जन्मादिसे होनेवाली सिद्धियाँ भी समझनी चाहिये। इसमें अन्तर केवल इतना है कि समाधिके द्वारा शुद्ध हुआ चित्त ही आत्मसाक्षात्कारके द्वारा साक्षात् मोक्षका कारण होता है जन्मादिसे सिद्ध नहीं।

---

१ स्वतन्त्रेच्छात्वात्–पा. १ पु.। २ तथा च–पा. २ पु.।

तत्र 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (यो. ४. १.) इति सूत्रेण सिद्धयः पञ्चप्रकारा उक्ताः। तत्र देवानां जन्मसिद्धिरणिमादिरूपा, असुरादीनां चौपधसिद्धिर्महाबलत्वादिः[1], सुवर्णादिसिद्धिश्च। मन्त्रसिद्धिस्तु मन्त्रैराकाशगमनादिः। तपःसिद्धिश्च तपसा सङ्कल्पसिद्ध्यादिः। समाधिसिद्धयस्तु व्याख्याता इति। प्रह्लादादीनां भक्त्यादिजन्यसिद्धयश्च तपःसिद्धिमध्ये प्रवेशनीयाः, 'अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते[2]' इति स्मृतेः।

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे
योगसिद्धिनिरूपणं तृतीयोंऽशः।

'सिद्धियाँ जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे होती हैं।' इस सूत्रने पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ बतायी है। सो, देवताओंको तो अणिमादिरूप जन्मसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा असुरादिको महाबलत्व और सुवर्णादिसिद्धिरूप औषधिसिद्धियाँ होती हैं। मन्त्रोंके द्वारा आकाशगमनादि करना मन्त्रसिद्धि है। तपके द्वारा संकल्पसिद्धि आदि हो जाना तपःसिद्धि है। समाधिसिद्धियोंकी व्याख्या तो पहले की ही जा चुकी है। प्रह्लादादिको जो भक्ति आदिसे उत्पन्न सिद्धियाँ प्राप्त थीं उन्हें भी तपःसिद्धियोंमें ही सम्मिलित कर लेना चाहिये, क्योंकि 'भक्तिके लेशमात्रसे अक्षय परम धर्म उत्पन्न होता है' ऐसा स्मृति कहती है।

———

१ महाबलवत्त्वादिः-पा. २ पु.

२ इति स्मृत्या तपोन्तरायेऽक्षयाऽपि भक्तिरधिकेत्येव विशेष इति दिक्। इत्यधिकम् २ पु.।

अथ चतुर्थोऽशः ।

योगविभूतयः प्रतिपादिताः। इदानीं ज्ञानयोगयोर्मुख्यं फलं कैवल्यं प्रतिपाद्यते ।

तत्र सूत्रम्—'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति' (यो. ४. ३४.) इति । अत्र गुणशब्देन बुद्धिरूपतया परिणताः सत्त्वादय उक्ताः । कैवल्यमेकाकिता । सा चान्योन्यवियोगरूपतया गुणपुरुषयोरुभयोरेव भवति । तत्र विवेकख्यात्या परवैराग्येण पुरुषार्थशून्यानां गुणानां

चतुर्थ अंश

कैवल्य

योगकी विभूतियोंका प्रतिपादन हो चुका । अब ज्ञान और योगके मुख्य फल कैवल्यका प्रतिपादन किया जाता है ।

इस विषयमें यह सूत्र है—'पुरुषके [भोग-मोक्षरूप] प्रयोजनसे निवृत्त हुए गुणोंका लीन हो जाना अथवा चितिशक्तिकी अपने स्वरूपमें स्थिति कैवल्य है ।' यहाँ 'गुण' शब्दसे बुद्धिरूपमें परिणत हुए सत्त्वादि अभिप्रेत हैं । कैवल्यका अर्थ है अकेलापन । एक-दूसरेकी वियोगरूपता होनेके कारण वह कैवल्य गुण और पुरुष दोनों हीका हो जाता है । सो उस अवस्थामें विवेकख्याति हो जानेपर परवैराग्यके द्वारा पुरुषप्रयोजनसे शून्य गणोंका, जो पुरुषके उपकरणरूप होते

पुरुषोपकरणानामात्यन्तिकः प्रतिप्रसवः प्रलयः। तस्मात्पुरुषादत्यन्तवियोग इति यावत्। न तु नाशः, 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्' (यो. २. २२.) इति सूत्रात्। एतदाद्यं कैवल्यं प्रकृतिधर्मः। द्वितीयं च कैवल्यं पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठा। सा च चितिशक्तिरेव प्रतिबिम्बरूपेण उपाधिवियुक्तेत्यर्थः। उभयपक्षेऽपि पुरुषस्य दुःखभोगनिवृत्तिरूपपुरुषार्थे पर्यवसानं भवति। अत एव 'हेयं दुःखमनागतम्' (यो. २. १६.) इति सूत्रम्।

अथ 'त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' (सां. १.१.) इति सांख्यसूत्रं चानेन सूत्रेण सहाविरुद्धम्। वेदान्तिनस्तु परमात्मनि जीवात्मलयो मोक्ष इति वदन्ति। तैः सहास्माकं न विरोधः। समुद्रे नदीनामिव ब्रह्मणि जीवानामुपाधिलयेनाविभा-

हैं, प्रतिप्रसव-प्रलय अर्थात् उस पुरुषसे उनका अत्यन्त वियोग हो जाता है, न कि नाश जैसा कि इस सूत्रसे प्रकट होता है—'जिस पुरुषका प्रयोजन पूर्ण हो चुका है उसके प्रति नष्ट हो जानेपर भी गुणोंका नाश नहीं होता, क्योंकि उससे भिन्न पुरुषोंके लिये वे समानरूपसे पूर्ववत् रहते हैं।' यह पहला कैवल्य तो प्रकृतिका धर्म है। दूसरा कैवल्य है पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति। और वह है प्रतिबिम्बरूपसे उपाधिसे वियुक्त हुई स्वयं चितिशक्ति ही—ऐसा इसका तात्पर्य है। इन दोनों ही पक्षोंमें पुरुषका दुःखभोगनिवृत्तिरूप एक ही फल में पर्यवसान होता है। इसीसे 'जो दुःख प्राप्त नहीं हुआ है वही हेय है' ऐसा सूत्र है।

इस प्रकार 'तीनों प्रकारके दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति ही पुरुषका अन्तिम प्रयोजन है' इस सांख्यसूत्रका इस सूत्रसे कोई विरोध नहीं है। वेदान्ती भी परमात्मामें जीवात्माके लय हो जानेको ही मोक्ष कहते हैं। उनसे भी हमारा विरोध नहीं है, क्योंकि समुद्रमें नदियोंके लयके समान उपाधिका लय होने पर जीवोंका ब्रह्मसे अभेद हो जाना ही

गस्यैव लयशब्दार्थत्वात्, तस्य च 'पररूपेणाप्रतिष्ठत्व एव पर्यवसानात् । वैशेषिकास्त्वशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इत्याहुः । तदप्यस्माकमविरुद्धम् । उपाधेर्विशेषणानामेवोपाधिमत्युपचारेण तदुच्छेदस्याप्युपचारात् । नैयायिकास्त्वात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इतीच्छन्ति । तत्त्वस्मन्मतमेव, भोग्यभोक्तृभावसंबन्धेन दुःखनिवृत्तिः पुरुषार्थो न समवायेनेत्येवास्माकं विशेषात् ।

यत्तु नवीना वेदान्तिब्रुवा नित्यानन्दावाप्तिं परममोक्षं कल्पयन्ति तदेव च वयं न मृष्यामहे । ब्रह्ममीमांसादिसकलदर्शनेषु तादृशसूत्राभावात्, श्रुतिस्मृतिन्यायविरोधाच्च[1] । तत्र मोक्षे सुखप्रतिषेधिकाः[2] श्रुतयः 'विद्वान्हर्षशोकौ जहाति' (क. २. १२.)

'लय' शब्दका अर्थ है और इस प्रकारके लयका पर्यवसान जीवके अन्य रूपसे स्थित न रहनेमें ही है । वैशेषिकोंका कथन है कि सम्पूर्ण विशेष गुणोंका नाश हो जाना ही मोक्ष है । इस मतका भी हमारेसे कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उपाधिके विशेष गुणोंका ही उपाधिमान्में उपचार (आरोप) होता है, अतः उनके उच्छेदका भी उसमें उपचार हो ही सकता है । नैयायिक तो दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्ष है ऐसा मानते हैं । यह तो हमारा ही मत है । उनसे हमारा इतना ही मतभेद है कि हम दुःखनिवृत्तिरूप पुरुषार्थको भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्धकी निवृत्तिद्वारा मानते हैं, समवाय सम्बन्धकी निवृत्तिद्वारा नहीं ।

किन्तु ये तथाकथित नवीन वेदान्ती जो नित्यानन्दकी प्राप्तिको ही परम मोक्षरूपसे कल्पना करते हैं वही हमें सह्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्ममीमांसा आदि सभी दर्शनोंमें ऐसा कोई सूत्र नहीं है और यह श्रुति, स्मृति एवं युक्तिके भी विरुद्ध है । मोक्षमें सुखका प्रतिषेध करनेवाली ये श्रुतियाँ हैं—'विद्वान् हर्ष और शोकको त्याग देता है' 'शरीरसे छूट

---

१ विरुद्धत्वाच्च—पा. २ पु. । २ प्रतिबन्धिकाः—पा. १ पु. ।

'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' (छा. ८. १२. १.) इत्यादयः। स्मृतिश्च—

"यच्च किंचित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन्।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम्॥
"परमात्मनि संलीनो विद्याकर्मबलान्नरः।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि युज्यते॥" इत्यादिः।

न्यायश्च मोक्षस्य जन्यत्वे विनाशित्वप्रसङ्गः, नित्यत्वे सिद्धतया न पुरुषार्थत्वम्। अथ नित्यसुखस्योपलब्धिरेव मोक्षो वाच्य इति चेन्न। उपलब्धेरपि नित्यानित्यविकल्पग्रस्तत्वात्। न च नित्यसुखगोचरस्याविद्यादियत्किंचिदावरणस्य भङ्ग एव पुरुषार्थो

जानेपर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते' इत्यादि। तथा ये स्मृतियाँ भी हैं—'जो कुछ भी सुख है वह सब दुःख ही है—ऐसा स्मरण करके जीव अत्यन्त दुस्तर घोर संसारसागरको पार कर जायगा।' 'विद्या और कर्मके बलसे परमात्मामें लीन हुआ पुरुष सुख या दुःखसे कभी युक्त नहीं होता' इत्यादि।

युक्तिसे भी यही सिद्ध होता है कि मोक्ष यदि जन्य है तो उसके नाशवान् होनेका प्रसंग होगा और यदि नित्यसिद्ध है तो वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता। यदि नित्य सुखकी उपलब्धिको ही मोक्ष कहा जाय तो ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उपलब्धि तो स्वयं ही नित्य-अनित्यके विकल्पसे ग्रस्त है।* तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि नित्यसुखको विषय करनेवाले अविद्यादि यत्किञ्चित् आवरणको भंग करना ही पुरुषार्थ है, क्योंकि लोकमें पुरुषार्थ तो केवल सुखानुभव

---

* अर्थात् नित्यसुखकी उपलब्धिको ही मोक्ष मानेंगे तो उसमें यह विकल्प होगा कि वह उपलब्धि नित्य है या अनित्य।

वाच्यः, सुखानुभवस्यैव लोके पुरुषार्थत्वाच्चैतन्यनित्यत्वेनावरणस्याप्यसंभवाच्चेत्यादिरिति ।

नन्वेवं मोक्षे परमानन्दश्रुतिस्मृतयः कथमुपपद्येरन्निति चेत् न, मोक्षशास्त्रपरिभाषयैव तदुपपत्तेः ।

"दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलभ्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते ।"
"दुःखं कामसुखापेक्षा सुखं दुःखसुखात्ययः ॥"

इत्यादिस्मृतिभिर्हि दुःखबहुलत्वेन सुखमपि दुःखतया परिभाष्य तादृशदुःखनिवृत्तिरेव सुखत्वेन परिभाषिताऽस्त्युपादेयगुणत्वेनेति । अत एव सांख्यसूत्रम्—'दुःखनिवृत्तेर्गौणः' (सां ५. ६७.) इति 'विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्' (सां ५. ६८.)

ही है तथा चैतन्य नित्य होनेके कारण उसमें किसी प्रकारका आवरण होना भी सम्भव नहीं है ।

नवीनवेदान्ती—यदि ऐसा माना जाय तो मोक्षमें परमानन्दका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति और स्मृतियोंकी संगति कैसे होगी ?

उत्तर—ऐसा मत कहो, क्योंकि मोक्षका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंने जो परिभाषा की है उसीसे उनकी संगति लग जाती है—'[संसारमें] दुःख ही है, सुख नहीं, क्योंकि यहाँ केवल दुःख ही दिखायी देता है । दुःखार्त्त पुरुषके दुःखका मार्जन होनेपर ही उसकी सुख संज्ञा पड़ जाती है ।' 'वास्तवमें भोगजनित सुखकी अपेक्षा होना ही दुःख है और दुःख-सुखसे परे हो जाना ही सुख है ।' इस प्रकारके स्मृतिवाक्यों द्वारा दुःखबहुल होने के कारण सुखकी भी दुःखरूपसे ही परिभाषा करके वैसे दुःखकी निवृत्तिको ही उसके उपादेयत्वरूप गुणके कारण सुखरूपसे परिभाषा की है । इसीसे ये सांख्यसूत्र भी है—'दुखनिवृत्तिको ही गौणरूपसे [सुख कहा जाता है]' '[दुःख निवृत्तिरूप] मुक्ति की

इति च। आनन्दावाप्तिस्तु गौणो मोक्षो ब्रह्मलोके भवतीति दिक्।

तदेवं कैवल्यं संक्षेपेण[1] प्रतिपादितम्।

योगशास्त्रस्य सारार्थः संक्षेपेणायमीरितः।
नातोऽधिको मुमुक्षूणामपेक्ष्यो योगदर्शने॥
सांख्यसारप्रकरणे विवेको बहु वर्णितः।
नातः प्रपञ्च्यते सोऽत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतितः॥
ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मादर्शादावीश्वरोऽपि च।
वर्णितो वर्ण्यते नात्र ग्रन्थसंक्षेपकाम्यया॥
समानतन्त्रसिद्धान्तन्यायेनात्र[2] च दर्शने।
सांख्यानुसारतो ज्ञेयः सृष्ट्याद्यर्थोऽविरोधतः॥

प्रशंसा मन्दबुद्धियोंके लिये ही है'। अतः ब्रह्मलोकमें आनन्दकी प्राप्ति तो गौण मोक्ष ही है।

इस प्रकार संक्षेपमें कैवल्यका प्रतिपादन हुआ।

उपसंहार

यह संक्षेपसे योगशास्त्रके सार अर्थका निरूपण हुआ। मुमुक्षुओं के लिये योगदर्शनमें इससे अधिक और कुछ अपेक्षित नहीं है। हमने अपने सांख्यसारप्रकरण ग्रन्थमें विवेकका बहुत वर्णन किया है; अतः ग्रन्थविस्तारके भयसे यहाँ उसका विशेष विवेचन नहीं किया गया। ब्रह्मादर्श आदि ब्रह्मसम्बन्धी ग्रन्थमें हमने ईश्वरका भी वर्णन किया है, अतः ग्रन्थको संक्षिप्त रखनेकी इच्छासे यहाँ उसका भी वर्णन नहीं किया गया। [योग और सांख्यदर्शनोंके सिद्धान्त समान ही हैं—इस] समानतन्त्र सिद्धान्त न्यायसे इस दर्शन में भी सांख्यके अनुसार ही सृष्टि आदिक्रम समझने चाहिये, क्योंकि सांख्यसे इसका कोई विरोध नहीं है।

---

१ संक्षेपतः—पा. २ पु.। २ सिद्धतन्त्रान्तन्यायेनात्र—पा. २ पु.।

तैर्दूषितं चेश्वरादि प्रसाध्यमिह यद्भवेत्।
तत्रेश्वरो ब्रह्मशास्त्रे न्यायादौ च प्रसाधितः ॥
तेनाप्यसाधितः स्फोटशब्दो धीवैभवं तथा।
संक्षेपात्साध्यतेऽस्माभिः सांख्यदोषनिरासतः ॥

तत्र शब्दस्तावत्त्रिविधो भवति—वागिन्द्रियविषयः श्रोत्रविषयो बुद्धिमात्रविषयश्च। तेषु कण्ठताल्वादिस्थलावच्छिन्नः शब्दो वागिन्द्रियस्य विषयः, तत्कार्यत्वात्। वागिन्द्रियव्यवहितः श्रोत्रस्थश्च शब्दजः शब्दः श्रोत्रस्य विषयः, तद्ग्राह्यत्वात्। घट इत्यादि पदानि तु बुद्धिमात्रस्य विषयः, वक्ष्यमाणयुक्त्या बुद्धिमात्रग्राह्यत्वात्। तानि पदान्येवार्थस्फुटीकरणत्वात्स्फोट इत्युच्यते। तद्धि पदं वागिन्द्रियोच्चार्यप्रत्येकवर्णेभ्योऽतिरिक्तम्,

सांख्यने जो योगप्रतिपादित ईश्वरादिका खण्डन किया है उसको सिद्ध करना यहाँ आवश्यक था, सो उसकी सिद्धि हम वेदान्त और न्यायशास्त्रमें कर चुके हैं। हाँ, स्फोट और बुद्धिवैभवका उन ग्रन्थोंमें भी विवेचन नहीं किया गया। अतः उनके विषयमें सांख्यकी दोषदृष्टिका निराकरण करते हुए हम संक्षेपसे उन्हें सिद्ध करते हैं।

स्फोट

शब्द तीन प्रकारका होता है—(१) वागिन्द्रियका विषय (२) श्रोत्रका विषय और (३) केवल बुद्धिका विषय। इनमें कण्ठ-तालु आदि स्थानोंसे अवच्छिन्न शब्द तो वागिन्द्रियका विषय होता है, क्योंकि वह उन्हींका कार्य है। उस शब्दसे उत्पन्न हुआ और वागिन्द्रियसे व्यवहित वह शब्द जो श्रोत्रेन्द्रियमें स्थित होता है उससे ग्राह्य होने के कारण श्रोत्रका विषय होता है। तथा घट इत्यादि जो पद हैं वे आगे बतायी जानेवाली युक्तिसे केवल बुद्धिके विषय हैं, क्योकि वे बुद्धिमात्रसे ग्राह्य हैं। अपने अर्थको स्फुट (प्रकट) करनेवाले होने से ये पद ही 'स्फोट' कहे जाते हैं। वह पद वागिन्द्रियसे उच्चारण किये जानेवाले प्रत्येक वर्णसे पृथक् ही है, क्योंकि

वर्णानामाशुतरविनाशितया मिलनाभावेनैकं पदमिति व्यवहार-गोचरत्वासंभवात्, अर्थस्मारकत्वासंभवाच्च। अस्य च स्फोटस्य कारणमेकः प्रयत्नविशेषः, प्रयत्नभेदेनोच्चारणे सत्येकपदव्यवहाराभावादर्थाप्रत्ययाच्च। तस्य च स्फोटस्य व्यञ्जक आनुपूर्वीविशेषविशिष्टतयाऽन्त्यवर्णप्रत्ययः। अतश्च तद्बुद्धेरेव स्फोटग्राहकत्वम्, आनुपूर्व्या बुद्ध्यैव ग्रहणसंभवेन सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्यैवानुपूर्वीप्रत्ययस्य स्फोटाख्यपदाभिव्यक्तिहेतुत्वे लाघवात्। अत एव स्फोटः श्रोत्रेण ग्रहीतुं न शक्यते। घात्तरटत्वादिरूपिण्या आनुपूर्व्याः श्रोत्रेण ग्रहणासंभवात् आशुतरविनाशितया वर्णानां मिलनासंभवात्। पूर्वपूर्ववर्ण-

वर्ण तो उच्चारण के पश्चात् तत्काल नष्ट हो जाते हैं, अतः उनका परस्पर मिलन न होने के कारण वे 'पद' इस नामसे व्यवहार के विषय नहीं हो सकते और न वे किसी अर्थका स्मरण ही करा सकते हैं। इस स्फोटका कारण तो एक प्रयत्नविशेष है। यदि इसका उच्चारण विभिन्न प्रयत्नों से माना जाय तो इसका एक पदरूपसे व्यवहार न हो सकनेके कारण इससे कोई अर्थ भी प्रकट नहीं हो सकता। इस स्फोटका व्यञ्जक तो वर्णोंकी आनुपूर्वीविशेषसे विशिष्ट अन्तिम वर्णका प्रत्यय ही है। इसीसे तद्विषयक बुद्धिही स्फोटको ग्रहण करनेवाली है। आनुपूर्वीका ग्रहण केवल बुद्धिसे ही हो सकता है; अतः आनुपूर्वीके प्रत्ययसे सामानाधिकरण्यमें अत्यन्त समीपता होनेके कारण स्फोटसंज्ञक पदको ही अभिव्यक्तिका हेतु माननेमें लाघव है। इसीसे स्फोटको श्रोत्रसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। [घटादि शब्दोंके उच्चारणमें] 'घ' के पश्चात् जो 'ट' आदिरूप आनुपूर्वी है उसका श्रोत्रसे तो ग्रहण हो नहीं सकता, क्यों कि उच्चारणके पश्चात् तुरन्त नष्ट हो जानेवाले होनेसे वर्णोंका परस्पर मेल नहीं हो सकता। पूर्व-पूर्व वर्णोंके संस्कार और उनकी स्मृतियाँ

संस्काराणां तत्स्मृतीनां चान्तःकरणनिष्ठानामन्तःकरणसहकारित्वस्यैवौचित्यादिति ।

स्यादेतत् । स्फोटव्यञ्जकस्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैव पदत्वमर्थप्रत्यायकत्वरूपमस्तु, अलं स्फोटेन, तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायात् । एतदेव सांख्यसूत्रेणोक्तम्—'प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः' (सां. ५. ५७.) इति । एकत्वप्रत्ययोऽप्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैकत्वेनोपपद्यत इति ।

अत्रोच्यते । एवं सत्यवयव्युच्छेदप्रसङ्गः । असमवायिकारणसंयोगविशेषावच्छिन्नानामवयवानामेव जलाद्याहरणहेतुत्वकल्पनायां लाघवात्तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायसाम्यात् । एको तो अन्तःकरणमें रहती हैं, इसलिये पदके ग्रहणमें अन्तःकरणकी सहकारिताको स्वीकार करना ही उचित है ।

शंका—ठीक है । किन्तु स्फोटको अभिव्यक्त करनेवाला जो आनुपूर्वीविशिष्ट अन्तिम वर्ण है वह भी तो अर्थका प्रत्यय करानेवाला पदरूप हो सकता है, फिर स्फोटकी क्या आवश्यकता है । इस विषय में यह न्याय है कि यदि कार्यका प्रयोजन कारणसे ही सिद्ध हो जाय तो कार्यकी अपेक्षा नहीं । यही बात इस सांख्यसूत्रने भी कही है—'प्रतीति और अप्रतीतिके कारण शब्द स्फोटात्मक नहीं है ।* पदकी एकत्वप्रतीति भी आनुपूर्वीविशिष्ट अन्तिम वर्णके एकत्वसे संगत हो ही जाती है ।

उत्तर—इस विषयमें हमें यह कहना है कि ऐसा माननेपर तो अवयवीके उच्छेदका प्रसंग प्राप्त होगा । इस कथनकी समता इस न्यायसे की जा सकती है कि संयोगविशेषरूप असमवायी कारणसे अवच्छिन्न जो घटके अवयव हैं उन्हें ही जलादिके लानेमें हेतु माना जाय तो [अवयवी घटकी अपेक्षा] इस कल्पनामें लाघव (सुगमता) है, अतः ऐसा ही

* अर्थात् शब्द प्रतीत होनेवाला होता है और स्फोटकी प्रतीति नहीं होती । अतः शब्द स्फोटरूप नहीं हो सकता ।

घट इत्यादिप्रत्ययानामप्येकं वनमित्यादिप्रत्ययवदुपपत्तेः। अथ परमाणूनां तत्संयोगानां चातीन्द्रियतया तद्रूपत्वेऽवयविनः प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकमवयविसाधकमिति चेत्, तुल्यं स्फोटेऽपि। आनुपूर्व्याः क्षणाद्यतीन्द्रियघटिततयाऽऽनुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णात्मकत्वे पदस्य प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकं स्फोटसाधकमिति।

अपि च स्फोटशब्दोऽस्माभिः श्रुतिप्रमाणेनैव स्वर्गादिवत् कल्प्यत इत्यतस्तत्र लौकिकप्रमाणाभावेऽपि न क्षतिः। तथा हि—प्रणवस्याकारोकारमकाररूपमात्रात्रयं ब्रह्मादिदेवतात्रयात्मकमुक्त्वा प्रणवदेवतात्रयातिरिक्तपरब्रह्मात्मकचतुर्थमात्रां श्रुतय आमनन्ति। सा च चतुर्थी मात्रा वर्णत्रयादतिरिक्तः स्फोट एव संभवति।

मान लिया जाय। तथा 'एक वन' इत्यादि प्रत्ययोंके समान 'एक घट' इत्यादि प्रत्यय भी संगत हो ही सकते हैं। यदि कहो कि परमाणु और उनके संयोग तो अतीन्द्रिय होनेके कारण अव्यक्त हैं, अतः यदि अवयवी (घट) को तद्रूप ही माना जायगा तो वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा; यह बात उनसे पृथक् अवयवीको सिद्ध करनेवाली है—तो ऐसा ही स्फोटके विषयमें भी कहा जा सकता है। आनुपूर्वी तो अतीन्द्रिय क्षणादिसे निष्पन्न है, इसलिये यदि पदको आनुपूर्वीविशिष्ट अंतिम वर्णरूप मानेंगे तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। ये सब युक्तियाँ स्फोटको सिद्ध करनेवाली हैं।

इसके सिवा हम स्वर्गादिके समान स्फोट शब्दकी भी श्रुतिप्रमाणसे ही कल्पना करते हैं, अतः इस विषयमें लौकिक प्रमाण न होनेपर भी किसी प्रकारकी हानि नहीं है। यथा—श्रुतियाँ प्रणवकी ब्रह्मादि त्रिदेवरूपा अकार उकार और मकार रूप तीन मात्राओंका उल्लेख करके प्रणवके इन तीन देवताओंसे विलक्षण परब्रह्मरूपा चतुर्थ मात्राका प्रतिपादन करती हैं, और वह चतुर्थ मात्रा उक्त तीन वर्णोंसे भिन्न स्फोट

सैव चार्धमात्रेत्युच्यते। राशिवदविभक्तयोर्हि वर्णपदयोर्वर्णा एकमर्धं पदं वा तदर्धमित्युपपद्यते। यथा चावयवेभ्यो विविच्याऽवायवी न व्यवहार्यो[1] भवति, एवमेव प्रत्येकवर्णेभ्यो विविच्य पदमुच्चारयितुं न शक्यत इत्यतः स्मर्यते—

'अर्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषतः' इति।

ननु स्यादेवमर्धमात्रोपपत्तिः, नादबिन्द्वोस्तु किं स्वरूपम्?

उच्यते। प्रणवे उच्चार्यमाणे शङ्खनादवेणुनादादिवद्यः स्वरविशेषो भवति स नादः, या च नादस्योपरमावस्थाऽतिसूक्ष्मा सा शून्यतुल्यतया बिन्दुरुच्यत इति। तस्मादवयवेभ्योऽवयवीव वर्णेभ्योऽतिरिक्तं पदं तदेव स्फोट इति सिद्धम्।

ही हो सकती है। उसीको अर्धमात्रा भी कहा जाता है। पद और वर्ण एक ढेरीके समान होते हैं, उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। अतः उनका एक अर्धभाग 'वर्ण' कहा जा सकता है और दूसरा अर्धभाग 'पद'। जिस प्रकार अवयवोंसे अलग करके अवयवी व्यवहारके योग्य नहीं हो सकता उसी प्रकार एक-एक वर्णसे अलग करके पदका उच्चारण नहीं हो सकता। इसीसे ऐसी स्मृति भी है—'देवी नित्य अर्धमात्रारूपसे स्थित है, जिसका पृथक् रूपसे उच्चारण नहीं हो सकता।'

शंका—इस प्रकार अर्धमात्राकी संगति तो लग जाती है, किन्तु नाद और बिन्दुका क्या स्वरूप है?

समाधान—बताते हैं। प्रणवका उच्चारण करने पर जो शंख और वंशी-नादादिके समान स्वरविशेष होता है वही 'नाद' है, तथा नादकी शान्तिकी जो अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है वह शून्यके समान होनेके कारण 'बिन्दु' कही जाती है। अतः अवयवोंसे अवयवीके समान जो वर्णोंसे अतिरिक्त पद है वही स्फोट है—यह सिद्ध हुआ।

---

१ व्यवहारयोग्यो—पा. २ पु.।

नन्वेवं वाक्यमपि स्फोटः स्यादिति चेत्, बाधकाभावे सतीष्यतामिति दिक् ।

स्फोटो व्यवस्थापितः ।

मनोवैभवं व्यवस्थाप्यते । धर्माधर्मवासनाश्रयतया प्रतिपुरुषमन्तःकरणं नित्यम् । न च प्रकृतिधर्मा एव सन्त्वदृष्टादय इति वाच्यम्, अन्यनिष्ठादृष्टादिभिरन्यत्र सुखदुःखाद्युत्पादेऽतिप्रसङ्गात् । तच्च नाणु संभवति; योगिनां सर्वावच्छेदेनैकदाऽखिलसाक्षात्कारसम्भवात्, अयोगिनामपि दीर्घशष्कुलीभक्षणादावनेकेन्द्रियवृत्त्यनुभवाच्च । न च योगिनां योगजधर्म एव प्रत्यासत्तिः स्यात्, संयोगसंयुक्तसमवायादिलौकिकप्रत्यास-

यदि कहो कि इस प्रकार तो वाक्य भी स्फोट हो जायगा, तो इसपर हमें यही कहना है कि यदि इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं हैं तो ऐसा ही सही।

इस प्रकार स्फोटका निर्णय हुआ।

मनोवैभव

अब मनोवैभवका निर्णय किया जाता है। धर्म और अधर्मकी वासनाओंके आश्रय रूपसे प्रत्येक पुरुषके साथ अन्तःकरण नित्य ही है। अदृष्टादि प्रकृतिके ही धर्म हो सकते हैं—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे अन्य पुरुषके अदृष्टादिसे अन्य पुरुषमें सुख-दुःखकी उत्पत्तिका प्रसंग उपस्थित हो सकता है। वह अन्तःकरण भी अणु नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वगत होनेके कारण योगियोंको एक साथ ही उसके द्वारा सम्पूर्ण वस्तुओंका साक्षात्कार हो सकता है; तथा जो योगी नहीं हैं उन्हें भी पूड़ी आदि खानेके समय एक साथ अनेक इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका अनुभव होता है। योगियोंका किसी योगज धर्मसे सम्बन्ध हो जाता है [इसलिये उन्हें एक साथ सबका अनुभव होने लगता है] ऐसा मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि (१) इस प्रकारका अनुभव तो संयोग, संयुक्त एवं समवाय आदि लौकिक सम्बन्धोंके द्वारा

त्यैवोपपत्तौ सन्निकर्षान्तरकल्पने गौरवात्, अन्योन्यं व्यभिचाराच्च; साक्षात्कारेऽवान्तरजातिकल्पने गौरवाच्च[1]। अस्मन्मते च सर्वार्थग्रहणमर्थस्यान्तःकरणस्य तमआख्यावरणभङ्ग एव योगजधर्मादिभिः क्रियते, सुषुप्तौ तमसो वृत्तिप्रतिबन्धकत्वसिद्धेरिति।

नाप्यन्तःकरणं मध्यमपरिमाणमात्रं सम्भवति, प्रलये विनाशेनादृष्टाद्याधारतानुपपत्तेः। अतः परिशेषतोऽन्तःकरणं विभ्वेव सिध्यति। तथा च स्मर्यते—

"चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने॥" इति।

ही हो सकता है, तब किसी अन्य सम्बन्धकी कल्पनामें तो गौरव दोष प्राप्त होगा; (२) [लौकिक और अलौकिक दोनों सम्बन्धोंका] परस्पर व्यभिचार होगा तथा (३) साक्षात्कारमें एक अवान्तर जातिकी कल्पना करनेसे गौरव दोष भी प्राप्त होगा। हमारे विचारसे तो सम्पूर्ण विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ इस अन्तःकरणके तमोगुणरूप आवरणका भंग ही योगजधर्मादिसे होता है। सुषुप्तिमें तमोगुण अन्तःकरणकी वृत्तियोंका प्रतिबन्धक है—यह बात सिद्ध ही है।

इसके सिवा अन्तःकरण मध्यम परिणाममात्र भी होना संभव नहीं है, क्योंकि तब तो प्रलयकालमें नष्ट हो जानेके कारण यह कल्पान्तरमें अदृष्टादिका आधार नहीं हो सकेगा। अतः परिशेषतः यह विभु ही सिद्ध होता है। ऐसा ही यह स्मृति भी कहती है—'हे सुमुखि! चित्ताकाश, चिदाकाश और आकाश—ये तीन प्रकारके आकाश हैं। इनमें चिदाकाशको शेष दो से सर्वथा शून्य जानो।'

---

१ जातिसांकर्यादतिगौरवाच्च—पा, २ पु.।

स्यादेतत्। अन्तःकरणस्य विभुत्वे परिच्छिन्नवृत्तिलाभस्यावरणेनोपपत्तावपि लोकान्तरगमनादिकं नोपपद्यते। अत एव सांख्यसूत्रम्—'न व्यापकं मनः करणत्वात्' (सां. ५. ६९.) इति, 'तद्गतिश्रुतेः' (सां. ५. ७०.) इति च। किं चैवं सति लाघवाच्चैतन्यस्यैवावरणकल्पनमुचितम्; किमर्थं विभ्वन्तःकरणं परिकल्प्यते? तत्र ज्ञानप्रतिबन्धकमावरणं कल्प्यत इति।

अत्रोच्यते। गतिश्रुतिस्तावदात्मनीवान्तःकरणेऽपि प्राणेन्द्रियाद्युपाधिनोपपद्यते। कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतात्कार्यान्तःकरणस्य स्वतोऽपि गतिरुपपद्यते। कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतं सांख्यैरप्येष्टव्यम्। केवलकार्यत्वे 'अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादी-

शंका—ऐसा ही सही। किन्तु अन्तःकरणको विभु मानने पर यद्यपि इसकी परिच्छिन्न वृत्ति तो तमोगुण आदिके आवरणसे भी उपपन्न हो सकती है, तथापि लोकान्तरगमनादिकी उपपत्ति किसी प्रकार नहीं लग सकती। इसीसे ये सांख्यसूत्र भी हैं—'करण होनेके कारण मन व्यापक नहीं हो सकता' तथा 'मनकी गतिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति होनेके कारण [वह विभु नहीं हो सकता]।' यदि ऐसी बात है तब तो लाघव होनेके कारण चैतन्यके ही आवरणकी कल्पना करनी उचित है, विभु अन्तःकरणकी कल्पना किस लिये की जाय? हाँ भी तो ज्ञानके प्रतिबन्धक आवरणकी ही कल्पनाकी जाती है।

समाधान—इस विषयमें हमें कहना यह है कि गतिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति तो आत्माकी तरह अन्तःकरणके विषयमें भी प्राण एवं इन्द्रिय आदि उपाधिके कारण संगत हो सकती है। इसके सिवा कार्य और कारणरूपसे अन्तःकरण दो प्रकार का होनेसे कार्यरूप अन्तःकरणकी गति स्वतः ही उपपन्न हो जायगी। कार्य और कारणरूपसे अन्तःकरणकी द्विरूपता तो सांख्यवादियोंको भी अभीष्ट है; क्योंकि यदि उसे केवल कार्यरूप मानेंगे तो 'धर्मादि अन्तःकरण के धर्म हैं' इस सांख्यसूत्रकी

नाम्' (सां. ५. २५.) इति सांख्यसूत्रानुपपत्तेः; केवलनित्यत्वे च महदाद्युत्पत्तिसूत्रानुपपत्तेः।

यदुक्तं[1] चैतन्यस्यैवावरणकल्पनं युक्तमिति तदयुक्तम्, कूटस्थचैतन्यस्य ज्ञानप्रतिबन्धरूपावरणासंभवात्। न च चैतन्यस्यार्थसम्बन्ध एव प्रतिबिम्बादिरूपे प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति वाच्यम्, एवमप्यात्मदर्शनानुपपत्तेः। करणद्वारं विना स्वस्मिन्प्रतिबिम्बादिरूपेण स्वसंबन्धासंभवात्। अपि चेच्छाकृत्याद्याधारतयाऽन्तः-

संगति नहीं लगेगी * और यदि उसे केवल नित्य (कारण) मानें तो महदादिकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रकी संगति नहीं लग सकती। ×

तुमने जो कहा कि चैतन्यके ही आवरणकी कल्पना करनी उचित है, सो ठीक नहीं, क्योंकि जो कूटस्थ चैतन्य है उसके ज्ञानके प्रतिबन्धरूप आवरणकी कल्पना तो सम्भव ही नहीं है। ऐसा कहना भी उचित नहीं कि चैतन्यका जो किसी वस्तुसे सम्बन्ध होता है उसीको प्रतिबिम्बादि रूपमें उसका प्रतिबन्धक मान लेना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार भी अपना दर्शन होना उपपन्न नहीं हो सकता, कारण कि बिना किसी करणके अपनेमें प्रतिबिम्बरूपसे अपना ही सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। इसके सिवा जब इच्छा और कृति आदिके आधाररूपसे

---

१ यत्तूक्तं—पा. २ पु.।

* क्योंकि इस सूत्रद्वारा धर्मादि (धर्म-अधर्म, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य और ज्ञान-अज्ञान) को अन्तःकरणका धर्म या कार्य माना जाता है, अतः अन्तःकरण इनसे पूर्वसिद्ध होनेके कारण इनका कारण होना चाहिये।

× उस सूत्रके अनुसार प्रकृतिका कार्य महत्तत्व, महत्तत्वका कार्य अहंकार और अहंकारका कार्य मन या अन्तःकरण है।

करणे सिद्धे स्वप्नादावन्तर्दृश्यमानघटादयोऽपि तस्यैव परिणामाः कल्प्यन्ते, कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यौचित्यात् । त एव च घटाद्याकारपरिणामाश्चैतन्ये भासन्ते । तद्विभागेनैव बाह्यघटादिकं भासते । अतस्तादृशपरिणामप्रतिवन्धकमेवावरणमित्येव युक्तम्[1] । किं च बाह्यकरणस्यावरणदर्शनेनान्तरावरणस्यापि करणनिष्ठत्वं चानुमीयते । आत्मनोऽनावृतत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यां चेति ।

नन्वन्तःकरणस्य विभुत्वे सति कथं कार्यत्वं स्यादिति चेत् । न, विभ्व्या अपि आकाशप्रकृतेः कार्याकाशरूपपरिच्छिन्नपरिणामवद्गुणान्तरभेदेनान्तःकरणप्रकृतेरपि परिच्छिन्नान्तःकरणरूपपरिणामोपपत्तेः । श्रुतिस्मृतिप्रामाण्याच्चैतदिष्यत इति दिक् ।

अन्तःकरण सिद्ध हो जाता है तो स्वप्नादि अवस्थाओंमें भीतर ही दिखाई देनेवाले घटादि भी उसीके परिणाम मान लिये जाते हैं, क्योंकि कार्य और कारणका एक ही अधिकरण होना उचित है। [अन्तःकरणके] वे ही घटादिरूप परिणाम चैतन्यमें भासते हैं तथा उससे पृथग्रूपसे बाह्य घटादिका भी भान होता है। अतः उस प्रकारके परिणामका प्रतिबन्धक ही आवरण होता है—ऐसा मानना ही उचित है। इसके अतिरिक्त बाह्य करणोंका आवरण देखा जाता है—इससे भी आन्तर आवरणके अन्तःकरणगत होनेका ही अनुमान होता है। तथा आत्माकी आवरणहीनता अनेकों श्रुति-स्मृतियोंसे भी सिद्ध है ही।

यदि कहो कि विभु मानने पर अन्तःकरणकी कार्यरूपता कैसे सिद्ध हो सकेगी, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं, जिस प्रकार कारणाकाश विभु होने पर भी उससे कार्याकाशरूप परिच्छिन्न परिणाम हो जाता है उसी प्रकार गुणान्तरके भेद द्वारा कारणरूप [विभु] अन्तःकरणसे परिच्छिन्न अन्तःकरणरूप परिणाम हो ही सकता है। यह बात श्रुति और स्मृतियोंके प्रमाणोंसे तो इष्ट ही है, सो दिखाया जा चुका है।

---

१ ०वरणम् । तन्नैव युक्तम्—इत्यपपाठः ।

मनोवैभवं व्यवस्थापितम्।

क्षणरूपः कालो व्यवस्थाप्यते। तत्र न्यायवैशेषिकाभ्यां मन्यते—आत्मवदखण्डो नित्य एकः कालोऽस्ति; लाघवात्स एव तदुपाध्यवच्छिन्नः सन्क्षणमुहूर्ताहोरात्रमाससंवत्सरादिव्यवहारं कुरुते, न पुनः क्षणनामा पृथक्पदार्थोऽस्तीति। सांख्यैस्तु 'दिक्कालावाकाशादिभ्यः' (सां. २. १२.) इति सूत्रान्महाकालो वा क्षणादिर्वा पृथक्पदार्थो नास्ति, किं त्वाकाशमेवोपाधिभिर्विशिष्टं क्षणादिमहाकालान्तव्यवहारं कुरुत इति मन्यते। तदेतन्मतद्वयमप्यसमञ्जसम्, स्थिरेण केनाप्युपाधिना महाकालाकाशाभ्यां क्षणव्यवहारस्यासंभवात्। तथा हि—उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नपरमाण्वा-

इस प्रकार मनोवैभवकी व्यवस्था हुई।

काल

अब क्षणरूप कालका निर्णय किया जाता है। इस विषयमें न्याय और वैशेषिक तो ऐसा मानते हैं कि आत्माके समान अखण्ड और नित्य एक काल है। लाघवसे वह एक ही काल उपाधियोंसे अवच्छिन्न होकर क्षण, मुहूर्त्त, दिन, रात्रि, मास और वर्ष आदि व्यवहारका निर्वाह करने लगता है, उससे पृथक् क्षण नामका कोई पदार्थ नहीं है। तथा सांख्यवादी 'दिशा और काल आकाशादिसे होते हैं' इस सूत्रके अनुसार ऐसा मानते हैं कि महाकाल या क्षणादि कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, अपितु उपाधियोंसे विशिष्ट आकाश ही क्षणसे लेकर महाकालतक का व्यवहार करता है। किन्तु ये दोनों ही मत ठीक नहीं हैं, क्योंकि ऐसी कोई स्थिर उपाधि नहीं है जिसके द्वारा महाकाल या आकाशसे क्षण आदिका व्यवहार हो सके। तात्पर्य यह कि [नैयायिक और सांख्य इन] अन्य वादियोंको महाकाल या आकाशकी उपाधिरूपसे परवर्ती देशके संयोगसे अवच्छिन्न परमाणु आदिकी क्रिया अथवा ऐसीही कोई

र्द्धिक्रियाऽन्यद्वैतादृशं किंचिन्महाकालाकाशयोः क्षणरूपतायामुपाधिः परैरिष्यते। तत्रोक्तसंयोगविशिष्टक्रियादिकं चेद्विशेष्यविशेषणतत्सम्बन्धमात्रं तर्हि त्रयाणामपि परैः स्थिरत्वाभ्युपगमान्न तैः क्षणव्यवहारः सम्भवति। यदि च तत्तेभ्योतिरिक्तमिष्यते तर्हि तस्य विशिष्टसंज्ञामात्रम्। तदेव चास्माभिः सर्वेभ्यः स्थिरपदार्थेभ्योऽतिरिक्तं क्षणाख्यः काल इष्यते। न तु तन्महाकाल आकाशं वा तेनैव क्षणव्यवहारोपपत्तौ तदवच्छिन्नस्यान्यस्य क्षणव्यहारहेतुत्वकल्पनावैयर्थ्यात्। स च विशिष्टादिरस्थिरः क्षणः प्रकृतेरेवातिभङ्गुरः[1] परिणामविशेष इत्यतो न प्रकृतिपुरुषातिरिक्तत्वापत्तिः। तस्यैव च क्षणस्या-

अन्य वस्तु अभीष्ट है। सो उक्त संयोगसे विशिष्ट क्रियादि यदि विशेष्य, विशेषण या उनका सम्बन्धमात्र हों तब तो उनके द्वारा इन तीनों की स्थिरता स्वीकृत समझी जायगी, अतः इनसे क्षणरूप व्यवहार सम्भव नहीं होगा।* और यदि वह क्रिया इनसे भिन्न है तो यह उसकी एक विशिष्ट संज्ञामात्र है। उसीको हम सम्पूर्ण स्थिर पदार्थोंसे भिन्न क्षणसंज्ञक काल मानते हैं। वह न तो महाकाल है और न आकाश ही है। जब उसीसे क्षणरूप व्यवहार उपपन्न हो जाता है तब उससे अवच्छिन्न किसी अन्यको क्षणव्यवहारके हेतुरूपसे कल्पना करना तो व्यर्थ ही है। इस प्रकारके विशेषणोंवाला क्षण प्रकृतिका ही अत्यन्त भङ्गुर (नाशवान्) परिणामविशेष होनेके कारण स्वभावसे ही अस्थिर है। अतः इससे उसके प्रकृति और पुरुषसे भिन्न कोई अन्य तत्त्व होनेका प्रसंग उपस्थित नहीं

---

१ अतिभङ्गुरायाः—पा. २ पु.।

* क्षण तो कालका अत्यन्त सूक्ष्म भाग है, अतः किसी स्थिर उपाधिके द्वारा उसका व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता।

[1]वयवविशेषैर्मुहूर्ताहोरात्रादिद्विपरार्धान्तव्यवहारो भवति, न त्वखण्डो महाकालोऽस्ति, प्रमाणाभावात्। इदानीमद्येत्यादिव्यवहाराणां क्षणप्रचयेनैवोपपत्तेः। कालनित्यताश्रुतिस्मृतयस्तु प्रवाहनित्यतापरा इति। तस्मादावश्यकत्वात्क्षणात्मक एव कालो नाखण्डो महाकालोऽस्ति; नाप्याकाशं कालव्यवहारहेतुरिति सिद्धम्।

एवमन्येऽप्यस्मच्छास्त्रसिद्धान्ताः सांख्यादिप्रतिषिद्धाः सुबुद्धिभिरुपपदनीया इति दिक्॥

होता। उस क्षणके अवयवों (संघातविशेषों) से ही मुहूर्त्त, दिन, रात आदिसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त कालका व्यवहार होता है। कोई अखण्ड महाकाल नहीं है, क्योंकि इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। अब, आज आदि व्यवहार भी क्षणोंके संघातसे ही संगत हो जाते हैं तथा कालकी नित्यताका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति-स्मृतियाँ तो क्षणप्रवाहकी नित्यताको सूचित करनेवाली हैं। अतः आवश्यक होनेके कारण काल क्षणात्मक ही है, अखण्ड महाकाल नामकी कोई वस्तु नहीं है और न आकाश ही कालव्यवहारका हेतु है—यह सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार सांख्यादि दर्शनोंसे प्रतिषिद्ध हमारे अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी भी बुद्धिमान् पाठकों को संगति लगा लेनी चाहिये।

—: * :—

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे

कैवल्यादिनिरूपणं चतुर्थोऽशः।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः।

श्रीभगवदर्पणमस्तु

---

१ प्रचयविशेषैः—पा. २ पु.।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१३	योग	निरोध
२०	१७	जिससे कि दोष	जिससे कि उसमें दोष
२२	१८	आत्मस । मान्य-	आत्मसामान्य-
२२	६	त्रिविधी	त्रिविधो
२५	३	चेच्छब्दाथ-	चेच्छब्दार्थ-
३७	४	-मुक्तनि	-मुक्तानि
३९	७	आषो	आपो
४०	२४	पुत्रैषणा	'पुत्रैषणा
४२	७	वितृष्णावैरा-	वितृष्णा वैरा-
४३	६	वैराग्यनुक्तम्	वैराग्यमुक्तम्
४३	१८	उपर	अपर
५२	११	रागषाद्वेभि-	रागद्वेषाभि-
५४	१६	कमद्वारा	कर्मद्वारा
५४	११	तन्निवृत्ता	तन्निवृत्तौ
५४	२४	सवथा	सर्वथा
५६	१७	लोकोंक	लोकोंको
५७	२१	ऐसी	ऐसा
५९	१३	मनमें	मतमें
६०	१४	भोगसाधनों	योगसाधनों

६०	२२	धारण	धारणा
६१	१३	कार्म	कर्म
७४	टिप्पणी २ में	ब्रह्म	ब्रह्म
७८	१३	अन्तरंग	तीन
८३	४	सवसङ्गं	सर्वसङ्गं
८३	१६	दूसरा	अद्वैत
८५	११	धारण । दि	धारणादि
८५	१२	बुद्ध	शुद्ध
९६	६	-संयमाद्भुत-	-संयमाद्भूत-
९६	१६	तोन	तीन
१०६	३	चौपद	चौषध
१०६	१४	औषधि	औषध
१०७	१	गणोंका	गुणोंका